※ श्रीनेमनाथाय नमः ※

श्री शीलमहिमा नाटक

अर्थात

सुखानन्द मनोरमा

सम्पादकः—

श्रीयुत—"विशारद"

प्रकाशकः—

दुलीचन्द परवार
मालिक—जिनवाणी प्रचारक कार्यालय,
१६१।१, हरीसन रोड, कलकत्ता ।

प्रथम वार } १९ ७ { न्योछावर ॥)
सजिल्द १)

ह आर र

प्रेम तरंग (प्रथम भाग)—कविवर सूरजभानजी "प्रेम" नवीन तर्जको कविता करनेमें कमाल करते हैं आपने वाइसकोपकी नवीन २ तर्जोंमें इस प्रेम तरंगको लिखा है। न्यो० एक आना।

प्रेम तरंग (द्वितीय भाग)—उक्त कविने ही यह दूसरा भाग लिखा है। न्यो० -)

त्रिमुनि पूजा—ब्र० प्रेमसागरजीने भक्तिसे प्रेरित होकर आ० सूर्यसागरजीकी पूजन लिखी है। न्यो० =)

पिंड शुद्धि अधिकार—अर्थात् मुनिराजकी आहार विधी वर्तमानमें जो मुनियोंका भ्रमण हो रहा है, इसलिये यह पुस्तक वहुत उपयोगी है। सचित्र पुस्तकका मूल्य =)

सज्जन चित्त वल्लभ—आचार्य मल्लिषेण कृत मुनियोंको शिथिलाचारी न होनेके लिये यह मास्टरका काम करेगी. प्रत्येक श्रावकको चाहिये कि इसे अवश्य देखें। न्यो० ≡)

दश लक्षण धर्म संग्रह—अर्थात धर्म कुसमोद्यान नामक पुस्तक बिलकुल नवीन पं० पन्नालालजी, साहित्याचार्यसे लिखवा कर तैयार की है, प्रत्येक श्रावकको इसे अवश्य ही पढ़ना चाहिये। ऊपर संस्कृत नीचे हिन्दी टीका दी हुई है जिससे सबको समझनेमें सुविधा होगी। न्यो० ।-)

छहढालाकी कुंजी—(सचित्र) छहढालाकी छन्दोंढालोंके शब्दार्थ इस तरह सरल भाषामें लिख दिये हैं कि मास्टरकी जरूरत नहीं है। इस कुंजीको मंगा लेनेसे बालक स्वयं पढ़ सकते हैं। मू० =) मात्र।

शील महिमा नाटक

अर्थात्

सुखानन्द मनोरमा

[प्रथमांक]

(प्रथम गर्भांक)

स्थान—विजन्ती नगरीका राजभवन।

(वीचमें सिंहासन है, दोनों ओर मन्त्री सेनापति बैठे हैं)

मन्त्री—(सेनाधीशसे) सेनाधीश ! आज महाराजको आनेमें क्यों विलम्ब हुआ ?

सेनाधीश—महाराज विलम्ब क्या हुआ ? आज चतुर्दशी है, अतएव देवपूजन इत्यादि नित्यकर्ममें अधिक समय व्यतीत हो गया होगा। अब आते ही होंगे।

मन्त्री—सेनापति ! देखो ! महाराजकी धर्ममें कितनी निष्ठा है आठों पहर और चौसठों घड़ी धर्मध्यानमें और प्रजापालनमें व्यतीत करते हैं। इसी धर्मके प्रतापसे आपकी प्रजा सदैव सुखी रहती है और राज्यमें हमेशा सुख शांति रहती है। सत्य है, जिस देशमें

इस प्रकार धार्मिक नृपति शासन करते हों वहांकी प्रजा क्यों न सुखी होगी ? क्यों सेनाधीश ! ठीक है न ?

सेनाधीश—निःसन्देह ! राजा धार्मिक और न्यायी होनेसे प्रजा भी धर्म और न्यायमार्ग पर चलती है। और जो पुरुष न्याय मार्ग पर चलता है उसको स्वप्नमें भी दुःख नहीं हो सकता है। भला फिर महाराजकी प्रजा सुखी क्यों न हो ?

(महाराज परमसेनका प्रवेश और मन्त्रीसेनाधीश का खड़े होकर प्रणामकर बैठ जाना।)

राजा—(प्रधान) मन्त्री ! देखो, आज चतुर्दशी है और राज्यके सर्व कार्य बन्द रक्खे गये हैं, अतएव मेरी इच्छा है कि आज मैं आपसे राजनीति श्रवण करूं।

मन्त्री—(हाथ जोड़कर) राजन। आप तो सर्वगुण सम्पन्न, धार्मिक और न्यायी हैं। आपको शिक्षा देना केवल सरस्वतीके आगे पण्डिताई करना है ! फिर भी मैं आपका सेवक हूं। आपकी आज्ञा पालन करना हमारा धर्म है। महाराज ! प्रथम तो नृपतिको उचित है कि अपनी प्रजाका पुत्रवत पालन करे, प्रजाको योग्य शिक्षा दे, देशके विद्वानोंको ऊंचे २ पदों पर नियुक्ति करे। प्रत्येक कार्यका स्वयं अवलोकन करे। जो नृपति प्रजाके दुःख सुखको अपना दुःख सुख समझते हैं, जिन्हें रात्रि-दिवस प्रजा पालन ही की चिन्ता लगी रहती है और जो सदैव न्यायमार्ग पर चलते हैं वे सीधे देवलोकको गमन करते हैं। राजन, यह राजनीतिका कथन

है इसमें यदि इस दासकी कुछ भूल हुई हो तो क्षमा करें। और कहा भी है कि:—

दोहा—दुख सुख परजाको लखे, सुत सम पाले ताहि।
धर्म न्याय सबको करे, राजा कहिये ताहि॥
निशिदिन परजाको लखे, नीति-अनीति विचार।
जो जाको अपराध तो, तैसो करि निरधार॥

राजा—(मन्त्रीसे) प्रधान जी ! तुम्हारा कथन यथार्थमें सत्य है। आशा है कि जिस प्रकार तुमने राजनीति वर्णनकी उसी प्रकार राज्यकी व्यवस्था कर रखी होगी। भला ! आपने राज्य प्रबन्ध किस ढंगसे किया है उसका वर्णन तो कीजिए ?

मन्त्री—(विनय पूर्वक) राजन ! राज्य प्रबन्धके विषयमें क्या वर्णन करूं ? सारा प्रबन्ध अलग २ भागोंमें विभक्त किया गया है। प्रत्येक विभागमें एक २ मन्त्रीं और उसके आधीन कई २ उपमन्त्री नियुक्त हैं। सब विभागोंकी देख-रेख स्वयं मैं करता हूं। प्रत्येक नगरमें न्यायालय स्थापित है। गरीब-अमीर सबके साथ न्याय-पूर्वक वर्ताव किया जाता है। भूखोंको आहारदान, वस्त्र हीनोंको वस्त्रदान, गरीबोंको विद्यादान, रोगियोंको औषधदान और भयपी-ड़ितोंको अभयदान दिये जाते हैं। देशमें मांसाहारियों और मद्यपों का तो नाम तक न रहा। शिक्षाको उचित उत्तेजना दी जाती है। प्रत्येक मनुष्य स्वधर्मपर चलनेको बाध्य किया जाता है। महाराज ! अधिक क्या कहूं ? बाघ बकरी एक घाट पानी पीते हैं और इनका कारण 'यथा राजा तथा प्रजा।'

राजा—(खुशी से) धन्य है प्रधानजी ! जहां आप समान मन्त्री हों वहां सुप्रबन्ध क्यों न हो ? यह आप ही का प्रबन्ध है कि जिससे यह साम्राज्य संसार भरमें विख्यात हो रहा है। परन्तु यहतो बताइये कि राज्यमें शान्ति स्थापित करनेके क्या २ उपाय हैं ?

मन्त्री—महाराज ! न्याय और प्रबन्ध ।

राजा—सो तो आपने न्याय और प्रबन्ध दोनों विभागोंका उचित प्रबन्ध कर ही रक्खा है; परन्तु, अचानक यदि इस देश पर किसी शत्रुने आक्रमण किया तो ?

मन्त्री—राजन् ! शत्रुको दमन करनेके लिये आपकी सैन्य सदैव तैयार है और उसका प्रबन्ध भी सेनापतिने उचित रीतिसे करही रखा होगा ?

राजा—(सेनापतिसे) क्यों सेनाधीश ! तुमने सैन्यका प्रबन्ध किस प्रकार किया है, वर्णन तो करो ।

सेनाधीश—(राजासे विनयपूर्वक) राजन् ! सेनाके तरफसे आप निश्चिन्त रहें, कारण चतुरंगिनी सेना उत्तम २ प्रकारके अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जितकी गई है। सैन्यमें इस समय १००० तोपें दो लक्ष अश्वारोही पांच लक्ष पैदल, पचास सहस्र हाथी सवार, और एक लक्ष ऊंट सवार हैं। इसके सिवाय कई प्रकारकी और छोटी-मोटी सेनायें तत्पर हैं। एक २ सैनिक ऐसा वीर है कि कैसा भी शत्रु क्यों न हो उससे लड़नेको तैयार है। स्थान २ पर राज्यमें दुर्ग बने हैं। क्षत्रिय सेना, सिक्ख सेना और गोरखा सेना इनके तो

नाम सुनते ही विदेशी नरेश दांतों तले ऊंगली काटने लगते हैं। सैन्यके स्वास्थ्यरक्षाकी सदैव सावधानी रक्खी जाती है।

राजा--शाबास! सेनापति!! शाबास!!! तुम राज्यके सच्चे शुभचिन्तक हो। ऐसी ही सेनाकी सदैव सावधानी रखते रहो, कारण समय पूंछ कर नहीं आता।

द्वारपाल---'राजाधिराज पद्मसेन महाराजकी जय हो।'

(द्वारपालकी ललकारपर एक विप्रका प्रवेश, राजा मंत्री आदि प्रणामकर बैठाते हैं।)

विप्र---(राजादिसे) राजन्, चिरायु हो, चिरायु हो,

राजा—(विप्रसे) महाराज आपने इस दास पर बड़ी कृपा की। कृपाकर बताइये आपका आगमन यहां कहांसे और कैसे हुआ?

विप्र—राजन्, हमारा निवासस्थान तो उज्जैनी नगरी है, परन्तु आपका यश और कीर्त्ति सुनकर आपके नगरमें चले आये। सुना था कि आप बड़े न्यायी और धर्मात्मा हैं और आपकी प्रजा सदैव न्यायमार्ग पर चलती है, परन्तु राजन्, यहां तो सब विपरीत पाया। राजन्, अन्याय, अन्याय, घोर अन्याय,

मन्त्री—(विप्रसे) महाराज आप यह क्या कहते हैं! राजा पद्मसेन महाराजके राज्यमें और विशेष कर आपकी राजधानीमें, अन्याय? (आश्चर्यसे) आप तुरन्त बताइये वह क्या बात है?

विप्र--(राजासे) राजन्, क्या आपको विदवान नहीं आता? आज प्रातः काल ही मैं इन नगरीकी शोभा देख रहा था।

जिस प्रकार प्रशंसा सुनी उसी प्रकार पाया। फिरते फिरते मैं एक जौहरीकी दुकान पर पहुंचा। पूछनेसे मालूम हुआ कि वह दुकान धनपाल सेठकी है। राजन्, मेरे पास एक अमूल्य रत्नजड़ित हार था। मैंने वह हार धनपाल सेठको दिखाया और उस हार का मूल्य पूछा। वह अपनी स्त्रीको बतानेके बहाने हार घरमें ले गया और महाराज, थोड़े समय उपरान्त एक झूठा हार बदलकर लाया और कहने लगा कि यह हार तो झूठा है तुम अभी यहांसे चले जाओ नहीं तो तुमको दण्ड भोगना होगा। मैंने कहा यह हार तो मेरा नहीं है। राजन्, मैं बहुत गिड़गिड़ाया, परन्तु उस दुष्टने एक न मानी। नगरमें भी मुझ गरीबकी कोई नहीं सुनता। महाराज, लाचार अब आपकी शरण ली है। राजन्, मेरा न्याय सच्चा २ कर दीजिये, ताकि संसारमें आपकी कीर्ति और यश बढ़े और प्रजा आपको धन्यवाद दे नहीं तो महाराज, मेरा तो सर्वस्व लुट चुका।

राजा—(प्रधानसे आश्चर्य पूर्वक) प्रधानजी, बड़ी विचित्र समस्या है ? देखो मेरे राज्यमें इस प्रकारका अनुचित कार्य ? और धनपाल सेठ तो बड़े धनिक हैं, फिर न मालूम क्यों ऐसा कार्य कर बैठे ? (विप्रसे) विप्र महाराज, आप शान्त रहें शोक न करें। आज चतुर्दशी है अतएव न्यायालय बन्द है। कल आपका न्याय हो जायेगा। आपका सच्चा हार आपको अवश्य मिलेगा। (विप्रका आशिर्वाद देकर चले जाना।) (प्रधानसे) मन्त्री, आप का इस विषयमें क्या विचार है ?

मन्त्री—राजन्, मुझे तो विश्वास नहीं होता है कि धनपाल सेठ इतने बड़े मनुष्य होकर ऐसा अनुचित कार्य करें ?

सेनाधीश—(राजासे) राजन्, और विप्र महाराज सच्चा रत्नजड़ित हार कहां से लायेगा ?

राजा—(सेनापतिसे) यह मत कहो। लक्ष्मीको देख बड़े बड़े राजा महाराजा लालचमें फंस जाते हैं, और विप्र महाराजके पास सच्चा रत्नजड़ित होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

मन्त्री—(राजासे) अथवा आपके न्यायकी परीक्षा करनेको यह कार्य किया हो ?

राजा—चाहे जो हो, परन्तु प्रधान जी, आप अब इस विषय में उचित सम्मति दीजिये कि क्या किया जाय।

मन्त्री—राजन्, मेरी समझसे प्रथम धनपाल सेठको बुलाकर पूछ लेना चाहिए। फिर जो कुछ होगा सो देखा जायेगा।

राजा—(सेनापतिसे) सेनाधीश, तुम अभी जाकर धनपाल सेठको बुलाओ।

[सेनापतिका धनपाल सेठको साथमें लेकर पुनः प्रवेश]

मन्त्री—(सेठसे) सेठजी, महाराजने आपको आज इसलिये याद किया है कि, आज आपके विरुद्ध एक मामला उपस्थित हुआ है।

सेठ—(मन्त्रीसे) महाराज मेरे से तो कोई अनुचित कार्य

नहीं वना। न मालूम किसने आकर महाराजासे मेरी झूठी फर्याद की है।

मंत्री---देखो, धनपाल सेठ, तुम अमीर हो, लक्ष्मीवान् हो, राज्यमें तुम्हारा अच्छा मान है, तुमको सव कोई वड़ा करके मानते हैं, और महाराजका भी तुम पर पूर्ण विश्वास है। कहिये, जो हम पूछेंगे सत्य सत्य वताओगे कि नहीं?

सेठ---महाराज, मैं तो आपकी प्रजा हूं। मेरी क्या सामर्थ्य जो आपके सन्मुख असत्य भाषण करूं?

मंत्री---धनपाल सेठ. एक विप्रने आकर तुमपर फर्याद की है कि तुमने उसका अमूल्य रत्नजड़ित हार लेकर उसके पलटे झूठा हार उसको दे दिया है, सो कहिए यह क्या वात है?

राजा---(सेठ से) देखिए, सेठजी, सत्य २ कह दीजिये तो आपकी कुछ भी हानि नहीं है। यदि असत्य कहा तो अन्तमें दण्ड भोगना होगा और वणिक् समाजमें तुम्हारी अपकीर्ति होगी।

सेठ---(स्वगत) यदि सत्य सत्य कह दूं तो अभी महाराज के सन्मुख ही मुझे लज्जित होना पड़ेगा, और वात प्रगट हुए विना तो रहती ही नहीं। और यदि असत्य कह दूं तो उस विप्रका कौन साक्षी है। (प्रगट) राजन्, मैं सत्य सत्य कहता हूं कि यह कदापि नहीं हो सकता। मैं नहीं जानता कैसा हार है और कहांका विप्र है?

मंत्री—(सेठसे) यह तो हम भी जानते हैं कि आपके समान

पुरुषोंसे ऐसा कार्य कदापि नहीं हो सकता, परन्तु आपको एकान्तमें बुलाकर इसलिये पूछा गया कि न्यायालयमें सबके समक्ष आपकी मानहानि होगी ।

राजा—(सेठ से) अच्छा, धनपाल सेठ, आज तो तुम अपने घर जाओ । कल प्रातःकाल दर्बारमें उपस्थित हो । उस समय विप्रका न्याय किया जायेगा । (धनपाल सेठका सबको प्रणाम कर गमन) (मन्त्रीसे) प्रधान जी, तुम नगरीमें ढिंढोरा पिटवा दो कि नगरमें जितने जौहरी हैं वे सब कल प्रातःकाल दर्बारमें उपस्थित हों ।

(इति प्रथम गर्भांक समाप्त)

(द्वितीय गर्भांक)

(स्थान—सुखानन्दका महल । सुखानन्द कुमार एक कुर्सीपर बैठ २ विचार कर रहे हैं)

सुखा०—(स्वगत) यह लोकोक्ति सत्य है—कि जहां दांत वहां चने नहीं और जहां चने वहां दांत नहीं, अर्थात लक्ष्मी और विद्या इन दोनोंका एक ही स्थानपर निवास होना केवल दुःसाध्य ही नहीं, किन्तु असम्भव है । परन्तु भाग्यसे दोनों मेरे अनुकूल हैं । राज्यमें भी मेरा अच्छा मान है । आज दर्बारमें सब अमीर लोग बुलाये गए हैं । पिताजीने मुझे भी जानेकी आज्ञा दी है, परन्तु सदा के नियमानुसार बिना बुलाए सर्वसाधारणके समान जाना उचित

नहीं। कुछ समयतक राह देखना चाहिये अन्यथा राजाज्ञा और पिताजीकी आज्ञा तो मान्य करनी ही होगी।

(एक सेवकका प्रवेश)

सेवक—(प्रणामकर) महाराज ! सेनाधिपति द्वारपर ससैन्य उपस्थित हैं और आपसे मिलना चाहते हैं।

सुखा०—(स्वगत आश्चर्यसे) ऐं ? क्या सेनाधिपति स्वयं मुझको लेने आए हैं ? (प्रगट) अच्छा ! जा उनको सादर भीतर ले आ।

(सेवकके साथ सेनाधिपतिका प्रवेश और दोनों हाथ मिलाकर बैठ जाते हैं)

सुखा०—कहिये, आज इस दासपर कैसे कृपा की ?

सेना०—सुखानन्द कुमार ! क्या आपने नहीं सुना ? महाराजने आज आपको याद किया है। आप शीघ्र ही चलिये।

सुखा०—कृपाकर यह तो बताइये कि आज दर्बारमें मुझे बुलाने का क्या कारण है ?

सेना०—(आश्चर्यसे) क्या आपको नहीं मालूम ?

सुखा०—नहीं तो !

सेना०—धनपाल सेठपर एक विप्रका अमूल्य रत्नजड़ित सच्चा हार लेकर उसके पल्टे साक्षात झूठा हार देनेका अभियोग लगा है आज दर्बारमें उसीका न्याय होगा। नगरके सब रईस बुलाए गए हैं, अतएव आपको भी स्मरण किया है।

सुखा० (आश्चर्यसे)—क्या धनपाल सेठपर हार बदलनेका दोषारोपण ?

सेना०—हां ! यही बात है, परन्तु कौन कह सकता है कि दोष सत्य है अथवा असत्य। परिणाम भविष्यकी गोदमें है।

सुखा०—(स्वगत) सत्य है ! जब मनुष्यके दुर्दिन आते हैं तो उसकी बुद्धि भी पलट जाती है (प्रगट) क्या महाराज इसका न्याय नहीं कर सकते थे जो दर्बारमें पेश किये।

सेना०—नहीं ! महाराजकी तो क्या ? परन्तु नगर भरके सब जौहरियोंने भी हाथ टेक दिये। अब सब केवल आप ही की मार्ग प्रतीक्षा कर रहे हैं। आप तुरन्त चलिए।

सुख०—महाराज ! धनपाल सेठका क्या कहना है ?

सेना०—वे तो अपना अपराध अस्वीकार करते हैं।

सुखा०—वे इस समय कहां हैं ?

सेना०—वे भी सभामें उपस्थित हैं।

सुखा०—अच्छा तो आप चलिए मैं भी तुरन्त आता हूं।

सेना०—बहुत अच्छा ! परन्तु शीघ्र ही आइयेगा।

सुखा०—(सेवकसे) सेवक ! जा चतुराको बुलाला !

[सेवकका जाना और चतुरादासीका आना]

(दासीसे) अरी ! चतुरा ! तू धनपाल सेठके घर जाकर उनकी स्त्रीसे कह कि सेठ साहब दर्बारमें हैं, उन्होंने दिव्यवाले हार का सभा २ सब हाल कह दिया है और मेरे हाथ वह हार मंगाया है।

यदि उनके प्राण बचाना हो तो हार मुझको दे दीजिए नहीं तो अभी उन्हें प्राणदण्डकी आज्ञा होगी। जा! तुरन्त जा! और तुरन्त वापिस लौटकर आ। सावधान! बात नहीं बिगड़े।

[दासीका जाना और तुरन्त वापिस आना]

सुखा०—(दासीको देख आश्चर्यसे) क्योंरी! हार नहीं लाई

चतुरा०—महाराज! आपकी आज्ञानुसार मैंने वहां जाकर धनपाल सेठकी स्त्रीसे सब कहा। पतिके प्राण जानेके भयसे उसने हारका सत्य २ सब हाल मुझसे कह दिया; परन्तु कहा कि यदि तू उनका कुछ चिन्ह लावेगी तो मुझे वह हार देगी।

सुखा०—(स्वगत) अब दर्बारमें जाकर जैसे बने तैसे वह झूठा हार लाना चाहिए, ताकि वह चिन्ह देखकर अवश्य सच्चा हार दे दे। (प्रगट) चतुरा मैं अभी दर्बारसे आता हूं तबतक तू यहां ही उपस्थित रह।

इति द्वितीय गर्भांक समाप्त

तृतीय गर्भांक

[स्थान—राजभवन, राजा मन्त्री कई रईस बैठे हैं]

राजा—(मंत्रीसे) मन्त्री! क्या नगरके सब जौहरी आ गए?

मन्त्री—हां महाराज! आ गए।

राजा—क्या इनमेंसे कोई विरका न्याय कर सकता है?

मंत्री—नहीं महाराज! ये सब न्याय करनेमें असमर्थ हैं।

राजा—और तो कोई जौहरी नगरमें नहीं रहा?

मंत्री—राजन् ! महिपाल सेठके पुत्र सुखानन्द कुमार नहीं आये वे अत्यन्त चतुर और बुद्धिमान हैं। वे अवश्य न्याय करेंगे।

राजा—क्यों नहीं आये ?

मंत्री—महाराज ! वे कुलीन पुरुष हैं बिना बुलाये नहीं आवेंगे।

राजा—कोई उनको बुलाने गया है ?

मंत्री—हां महाराज ! सेनापति गए हैं अब आते ही होंगे।

(सेनापतिका आना)

मंत्री—क्यों सेनापति ! सुखानन्द कुमार नहीं आए ?

सेना०—महाराज ! वे आते ही थे इतनेमें मैं पहुंच गया अब वे आते ही होंगे।

[सुखानन्दका आना, राजाको प्रणामकरबैठ जाना]

मंत्री—(सुखानन्दसे) सुखानन्द कुमार ! तुम्हें आज यहां बुलाये जानेका कारण विदित हुआ ?

सुखा०—हां महाराज ! हुआ। और यदि हो सकेगा तो मैं मदद भी करूंगा परन्तु पहले वह झूठा हार मुझे दिखाना चाहिये

[मन्त्री विप्रसे हार लेकर सुखानन्दकुमारको देते हैं]

सुखा—(धनपाल सेठसे) धनपाल सेठ ! यह हार आपका है ?

धन०—नहीं।

सुखा०—((विप्रसे) क्यों महाराज ! यह हार आपका है ?

विप्र—नहीं तो, हमारा हार तो सच्चा है और वह धनपाल सेठके पास है। यह हार तो झूठा है।

सुखा०—तुमने कैसे जाना कि तुम्हारा हार धनपाल सेठके पास है।

विप्र—कुमार, ये हमारा हार लेकर घरमें गये और सच्चा हार वदलकर उसके पलटे यह झूठा हार लाकर हमको दे दिया।

सुखा—तुम्हारा कोई साक्षी भी है?

विप्र—भगवान।

सुखा०—राजन्, यदि मुझे आज्ञा हो तो मैं ज़रा अपने घरपर हो आऊं। आप सव यहां ही ठहरें। वहांसे आकर मैं अवश्य सम्मति दे सकूंगा।

राजा—अच्छा जाओ, परन्तु तुरन्त लौटना।

(मन्त्रीसे) मन्त्री वड़े ही खेदकी वात है कि आप सव इस का न्याय नहीं कर सकते।

मंत्री—(हाथ जोड़कर) राजन्, प्रथम तो इस अभियोगमें न कोई साक्षी न कोई है प्रमाण। हम कैसे न्याय करें? यदि धनपाल सेठके विरुद्ध न्याय करें तो नगरके सव जौहरी दुखी हों। यदि विप्र महाराजके विरुद्ध न्याय करें तो आश्चर्य नहीं कि वे प्राण त्याग दें जिससे सारे संसारमें आपकी अपकीर्ति हो; अतएव हम न्याय करनेमें असमर्थ हैं।

सुखा०—(राजासे) राजन्! लीजिए (सच्चा हार देकर) क्या यही विप्रजीका हार है?

राजा—(विप्रसे) क्यों विप्रजी! यही तुम्हारा हार है?

विप्र--(हारकी परीक्षा करके) हां महाराज ! यही मेरा हार हैं (हर्षसे) धन्य है ! महाराज ! धन्य है आपके न्यायको ॥

राजा--(सुखानन्दसे) सुखानन्द कुमार ! यह तो बताओ कि यह हार तुमको कैसे मिला ?

सुखा--राजन् वह झूठा हार देकर मैंने अपनी दासीको धनपाल सेठके घरपर संदेशा लेकर भेजा कि धनपाल सेठने दर्बारमें हारका सब सच्चा २ वृत्तान्त कह दियाहै। अब यदि तुम उनके प्राण बचाना चाहो तो वह हार मुझे दो नहीं तो उनको प्राणदन्डकी सजा दी जायगी। उन्होंने विप्र को यह झूठा हार देकर सच्चा रत्नजड़ित हार मगाया है महाराज ! स्त्रीजाति स्वभाव से ही कोमल हृदया होती हैं। पतिके प्राण बचाने की लालसा से तुरन्त उसने हार निकालकर दासी को देदिया। राजन् ! यह हार अब आपके सन्मुख है।

राजा—धन्य ! धन्य ! सुखानन्दकुमार !! धन्य है तुम्हारी बुद्धि को ! जो तुम ऐसा न्याय करने को समर्थ हुये।

(सब सुखानन्दकुमारको धन्यवाद देते हैं)

(धनपाल सेठ से) क्यों धनपाल सेठ अब भी तुम अपना अप-राध स्वीकार करते हो या नहीं ?

(धनपाल सेठ ने लज्जासे शिर नीचा कर लिया)

राजा--आगे तो ऐसा नहीं करोगे ?

धन०--(गद्गद्कंठसे) नहीं महाराज।

राजा--(स्वगत) चाहे जो हो, विना अपराध किसी को भी दंड देना नहीं चाहिये, और अपराधी को, अपराध सिद्ध हुये पीछे, अवश्य दंड देना चाहिये ताकि दूसरों को शिक्षा मिले। (प्रगट) सेनापति, तुम अभी धनपाल सेठको ले जाओ और इनका काला मुह करके गधेपर चढ़ाकर सम्पूर्ण नगरमें फिराओ और साथहीमें ढिंढोरा पिटवा दो कि जो कोई ऐसा अपराध करेगा उसको इसही प्रकार दंड दिया जायगा जिससे प्रजा आगे ऐसा अत्याचार न करे।

(विप्रसे) विप्र महराज, तुम अपना हार सम्हालो और खुशोसे नगरीका अवलोकन करो (सबसे) आप सब सेठ साहूकारों को परिश्रम उठाना पड़ा इसलिए मैं आप लोगों से क्षमा मांगता हूं (सुखानन्दसे) सुखानन्द कुमार, आपने आज हमारे धर्म व न्याय की रक्षा की। अतएव आपको जितना धन्यवाद दिया जाय उतना कम है। आशा है कि आप सदैव इसी प्रकार हमें सहायता देते रहेंगे ॥

[सब राजाको प्रणामकर जाते हैं और जवनिका गिरती है ।]

(विप्रका प्रवेश)

विप्र—(आप ही आप) अहाहा, आज क्या ही हर्षका समय है कि जिस कार्यके लिये नगर२ भ्रमण किया वह कार्य सर-लतासे सम्पादन हो गया। जिस आपत्तिमें मैं फँसा था उसीने मेरा

संकट मोचन किया। उज्जैन नगरीके सेठ महीदत्त, जिनकी कन्या मनोरमा। अहाहा, कैसी सुन्दर और बुद्धिमान कन्या? अब वह विवाह योग्य हुई है। उसके पिताने यह अमूल्य रत्नजड़ित हार दिया है और कहला भेजा है कि जो कोई इस हारका मूल्य देनेमें समर्थ होगा उसे घर वर देख कर कन्या देना स्वीकार कर लेना। अब इस समय कन्याका आजन्म सुख व सौभाग्य मेरे ही पर निर्भर है। मैं चाहे जो कर सकता हूं, अतएव मुझे समझ कर कार्य करना चाहिये। सारे देश भरको देख डाला, परन्तु मनोरमाके योग्य वर ही नहीं दिखाई पड़ा। लाचार अन्तमें इस विजिन्त नगरीमें आया तो इस आपत्तिमें फंस गया। इससे तो छुटकारा हुआ। अब अपना कार्य करना चाहिए। (कुछ ठहर, विचार कर)। परन्तु सुखानन्द कुमारकी अपेक्षा भी क्या कोई अधिक रूपवान और गुणवान पुरुष इस संसारमें होगा? मेरी समझमें तो मनोरमा और सुखानन्दकी जोड़ी स्वयं प्रकृतिने अपने हाथसे बनाई है। जैसी वह रूपवती है वैसेही यह भी साक्षात मदनकी मूर्ति है। गुणमें भी किसी प्रकारकी न्यूनाधिकता नहीं है अब चल कर सुखानन्द कुमारके पितासे सब वृतान्त कहूं। विवाहका दिन निश्चय कर इनको एक चित्र और एक पत्रिका लिखकर मनोरमाके पिताको उज्जैन भेज दूं। अब चलना चाहिए।

(इति तृतीय गर्भांक)

(चतुर्थ गर्भांक)

(स्थान—मनोरमाका निवास-स्थान)

(प्रियतमा बैठी है। हास्यमंजरीका एक हाथमें चित्र और दूसरेमें पत्रिका लेकर प्रवेश।)

हास्य०—सखी, क्या कर रही हो ?

प्रिय०—अरे, कौन ? हास्य मंजरी ? अरी सखी, तुम्हारी राह देख रही हूं ? सो तुम ही आ गई।

हास्य०—हांरी, सखी, मैं तो आ गई, परन्तु क्या मनोरमा बाई अभी तक नहीं आई ?

प्रिय०—नहीं री, आती ही होंगी।

हास्य०—भला प्यारी, आज आनेमें विलम्ब क्यों हुआ ! नित्य-प्रति हमारी आली प्रातःकाल उठ, स्नान पूजाकर, सोलह शृंगारसे सुसज्जित हो, हमारे साथ आनन्द काननमें जा क्रीड़ा करती थी। आज इतना समय हो गया अभी तक क्यों नहीं आयी ?

प्रिय—अरी सखी, तू कैसी बातें करती हो ? प्रथम तो हमारी सखी लक्ष्मी कन्या रूपवती, सर्व सुख सम्पन्न, और सकल गुणों से भूषित है उस पर यौवनावस्था और माता-पिताका प्यार। फिर कोई आश्चर्यकी बात है, निद्रा लग गई होगी। परन्तु यह तो बता कि तू इतनी आतुर क्यों हो रही हो ?

(मनोरमाको आते देखकर दोनों चुपहो जाती हैं]

मनो०—(हास्य मंजरीसे) प्यारी, कुशल तो है न ?

हास्य०—कुशल केवल आपके दर्शनोंसे, परन्तु सखी, आप तो कुशल पूर्वक हैं न ?

हास्य०—भला आली, कि आज आपको इतना विलम्ब क्यों हो गया ? और आज आपकी मुद्रा भी कुछ म्लान दिखलाई देती है। प्यारी क्या यह दुखी होनेका समय है ?

मनो०—सखी, मेरे लिये तो सब समय समान है।

हास्य०—नहीं प्यारी, ऐसा मत कहो। मैं तुम्हारे कहनेका मतलब समझ चुकी, परन्तु अब तुम्हारी इच्छा पूर्ण होनेका समय आ गया है !

मनो०—सखी, अभी तो मेरे ऐसे भाग्य नहीं।

प्रिय०—(मनोरमा से) हे बड़ भागी, ऐसे शब्द तुम्हारे मुखारविंदसे शोभा नहीं देते, कारण भगवानने तुम्हें सर्व सुख सम्पन्न बनाया है और जिस बातकी तुम चिंता करती हो वहभी अब शीघ्र ही पूर्ण हो जायेगी।

मनो०—सो तूने कैसे जाना ?

प्रिय०—हास्य मंजरीकी बातों से।

मनो०—(हास्यमंजरी से) सखी, हास्य मंजरी, तू अब तक हमारे साथ पेंचीली बातें करती है सत्य सत्य कह कि हमारे लिये क्या आनंद दायक समाचार तू लायी है।

[हास्यमंजरीका चित्र देना और मनोरमाका देखना)

(आश्चर्यसे) अरी, यह तो किसी पुरुषका चित्र है स्त्रीको यौवनावस्थामें कदापि पर पुरुषका चित्र नहीं देखना चाहिए। क्यों

कि यह मन बड़ा चंचल होता है। जैसा चित्र देखे वैसा विचार भी हो जाते हैं अतएव तू सत्य कह, यह किसका चित्र है और इस से मेरा क्या संबंध ? बाई, मेरे तो कुछ समझमें नहीं आता।

हास्य०—प्यारी, परके स्थानपर निज लगाकर इसको निरखो। (पत्रिका देखकर) लो इस, पत्रिकाके बांचनेसे सब हाल विदित हो जायेगा और तब सब आपके समझमें आ जावेगा।

मनो०—सखी, तू ही बांच मैं सुनती हूं।

हास्य०—ना री, सखी ना, तूही, बांच।

मनो०—(प्रियतमा को पत्र देकर) प्रियतमा, ले तू बांच।

प्रिय०—नही सौभाग्ये, आपही बांचिये।

मनो०—अच्छा तो ला मैं ही बाँचती हूं। (पत्र पढ़ती है)

प्रिय०—सखी, यह किसकी पत्रिका है और इसमें क्या लिखा है कि जिससे आप इतनी लज्जित हो गईं ?

मनो०—हास्य मंजरीसे पूछ ले।

हास्य०—नहीं बहन, आप ही कह दो।

मनो०—कह री, कह, तूही कह दे।

हास्य०—और यदि आप ही कहदो तो कुछ लज्जाकी बात है ?

मनो०—(हंसकर) चल री, चल, कहती नहीं क्या हंसी किया करती है।

हास्य०—प्यारी अब भी नहीं तो कब ?

प्रिय०—चलो बहन, तुम्हारी हंसीमें मेरा तो कुछ कार्य भी नहीं सिद्ध होता। हास्य मंजरी, तुमही क्यों नहीं कह देती ?

हास्य०—बाई, प्रियतमा, तुम कितनी भोली जान पड़ती हो, क्या तुम इतने पर भी नहीं समझी ? अरी, यह पत्रिका विप्र महाराजकी है और विजन्ती नगरीसे आई है वहांके महिपाल सेठ के पुत्र सुखानंद कुमार, उनहीका यह चित्र है। प्रियतमा बाई, इन्हीं के साथ हमारी प्यारी मनोरमाका पाणिग्रहण होगा। सखी, कैसी युगलमूर्त्ति है और नाम भी कितना प्यारा लगता है ?

प्रिय०—(मनोरमा से) सखी, तनिक मुझे भी तो चित्र दे मैं भी तो देख लूं। अरी क्या अब तू चित्रको नहीं छोड़ेगी ?

मनो०—(चित्र देकर) चल री, चल, क्या तू भी हास्यमंजरीसी हो गई ? (हास्य मंजरी से) परंतु सखी, हास्यमंजरी, तू यह तो बता कि तू यह पत्रिका और चित्र कहांसे लाई ?

हास्य०—बाई मुझे, तो चपलाने दिया।

मनो०—(दासी से) अरी, चपला, तू यह चित्र और पत्रिका कहांसे लाई ?

चपला०—बाई साहब आज ही प्रातःकाल में आपके पिताके विश्रामालयमें गई थी वहां यह पत्र और चित्र रक्खा था सो आप के अवलोकनार्थ ले आई, परंतु आप निद्रावश थीं अतएव मैंने हास्यमंजरी बाईको दे दी।

मनो०—अरी, तू जहांसे लाई थी उसी स्थान पर रख आ नहीं तो पिताजी सुनेंगे तो क्या कहेंगे ? हास्यमंजरी तो यथानामा तथा गुणः है। (पत्री जहांकी तहां रख देती है)

हास्य०—(मनोरमा से) भला, आली, इसमें मैंने कौन सी

हंसी की ? मैं तो केवल आपके दर्शन करानेको लाई थी।

प्रिय०—और दर्शन कर भी लिये।

हास्य०—हां री, सखी, दर्शन तो कर लिये, परन्तु मन कब भरता है ? लज्जाके मारे ऊपरसे चाहे जो कहो।

मनो०—तुझे तो जब देखो तब हंसी, परंतु तेरा क्या दोष ? तेरा स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है।

हास्य०—हां, मुझे ऊपरसे हंसी करनेको मना करती हो, परंतु भीतरसे आपका मन क्या कहता होगा।

प्रिय०—चलो बहन, इन बातोंको रहने दो कारण अब घर जानेका समय हो गया है!

हास्य०—हां चलती हैं रीं, (मनोरमा से) सखी, मेरी एक प्रार्थना है यदि सुनो तो कहूं।

मनो०—भला सखी, तेरा कहना मैंने कब नहीं सुना है ?

हास्य०—सखी, मेरी इच्छा है कि आज अपन सब मिलकर संध्याके समय पुष्प वाटिकामें चल क्रीड़ा करें कारण अब वसंत भी आ गया है और आज अपने लिये अपार आनंदका दिवस है।

प्रिय०—इसमें क्या बुराई है ? परंतु सखी मनोरमा बाईकी ओरसेअवश्य आज्ञा ले लेनी चाहिए। (मनोरमा से) क्यों सखी ठीक है न ?

मनो०—भला प्यारी, तेरा कहना कब ठीक नहीं होगा ?

हास्य०—अच्छा तो चलो चलें।

(पंचम गर्भांक)

[स्थान—पुष्पवाटिका]

(एक वृक्षके नीचे त्यागी बैठे हैं। ध्यान लगाकर विचार कर रहे हैं) त्यागी—(स्वयम्) देखो ! इस संसारमें प्राणीमात्र मोक्ष पद पानेकी इच्छा करते हैं। 'मोक्ष' यह शब्द कितना प्यारा मालूम होता है ? परन्तु यह मोक्ष पद पाना महान दुर्लभ है कारण इसका मार्ग बड़ा कठिन है। इसपर चलना साधारण पुरुषोंको सामर्थ्य नहीं। इस मार्गपर चलने वालोंको बड़े २ संकट उठाने पड़ते हैं।

एक समय वह था कि मनुष्यमात्र धर्ममार्गपर चलते थे और ऋषि मुनियोंका आदर करते थे और आज एक समय यह है कि उन्हींकी सन्तान मुनियोंका निरादर करती है। चाहे जो हो परन्तु हमारा काम धर्मोपदेश करनेका है सो उससे कदापि हमको विमुख नहीं होना चाहिये।

[मनोरमाका सखियोंके साथ दूसरी ओरसे प्रवेश]

मनो०—सखो ! देखो ! वाटिकामें कैसे २ सुन्दर सुमन खिल रहे हैं जिनसे मिलकर मन्द मन्द हवा चली आती है और जिनकी सुगन्धिसे सारा बाग सुगन्धित हो रहा है।

हास्य०—प्यारी ! ये फूल तुम्हारा प्रफुल्लित मुख देख उससे मिलने का चेष्टा कर रहे हैं, परन्तु यह देखो गुलाबका फूल अपने सौंदर्यसे आसपासके सब फूलोंको लज्जित कर रहा है मानो स्वयं

हँसकर तुमको भी हँसाया चाहता है। परन्तु यह सौन्दर्यता केवल अल्पकालके लिये है।

मनो०—यही हाल तो इस जीवनका भी है, परन्तु मनुष्य वृथा इसका गर्व करते हैं।

प्रिय०—(मनोरमासे) सखी, देखो ! तुम्हारे सुन्दर स्वरूपके आगे चम्पा चपा सा दिखाई देता है और लज्जावती लज्जाकी मारी तुम्हारे सम्मुख मुख नहीं करती।

हास्य०—(आगे बढ़कर) अरी प्रियतमा ! देख तो सही यह जाईजुई किस प्रकार मार्गमें आ मनोरमा बाईको जानेसे मना करती है और यह देख सेवती किस प्रकार सखीकी सेवा करनेको तत्पर खड़ी हैं।

प्रिय०—ठीक है बहन कोमल कमलकी सब कोई चाह करता है कटीले वृक्षकी कौन चाह करे ?

मनो०—चल ! तू फिर हँसी करने लगी ? इधर तो देख इस सरोवरका निर्मल जल सूर्यकी किरणोंसे किसप्रकार चमचमा रहा है और उसमें तरंगे किस प्रकार लहरा रही हैं ?

हास्य०—(मनोरमासे) प्यारी सखी ! ये देख ! इस सरोवर के किनारे मल्लवान तुम्हारे नेत्रोंके बाणोंसे घायल हो, किस प्रकार मदनके समान तड़प रहा है और पक्षी किस प्रकार एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर उड़ स्वतन्त्रताका आनन्द लूट रहे हैं ? देख सखी:—

गायन

(राग आसावरी ताल—कहरवा)

मधुवनमें मुरलवा बोले—२

दादुर मोर पपैया बोले, पवन चलत आलि सनननन ॥ मधु०॥

बोल मुरलवा घन गरजत है, जल बरसत चहुं सररररर ॥ मधु०॥

घोर घटा अति चहुंदिश छाई, चपला कड़कत कड़ड़ड़ड़ड़ ॥ मधु०॥

डार डार कोकिल कूकत है, पादप कंपत थररररर ॥ मधु० ॥

वैरन रजनी मनुज्ञ डरावत, जिय जिन धड़कत धड़ड़ड़ड़ड़ ॥म०॥

प्रिय०—(हास्य मंजरीसे) सखी ! यह तो तूने खूब कही परन्तु एक मेरी भी सुन ले ।

हास्य०—वाह री सखी वाह ! यह तो समयानुकूल हुई परन्तु मेरी इच्छा है कि एक गायन मनोरमा वाईके भी मुखसे सुनूं ।

मनो०—नहीं सखी ! मुझे नहीं आता ।

प्रिय० - भला प्यारी , गुदड़ीमें छिपानेसे कहीं लाल छिपते हैं ?

मनो०—नहीं प्यारी , तेरी सों मुझे नहीं आता ।

हास्य०—वाहरी सखी, वाह, गाना अगर अभी नहीं आता तो पीछे सीख लेना । चलो समय अधिक हुआ । अब आगे बढ़ें । (चम्पा मालनको हाथमें पुष्पहार लिये आती देखकर) अरी ! चम्पा तू यह क्या लाई ?

चम्पा०—वाई साहब, जिस समय मनोरमा वाई मार्गसे आ रही थी तब ये फूल उनके कोमल शरीरको छू जाया करते थे,

अतएव इनको इस अपराधका दण्ड देनेके लिये मैं धागेसे बांध लाई हूं।

प्रिय०—यह तो तूने ठीक किया, परन्तु इनको इच्छा पूर्ण करना चाहिये। इनको सखीके कोमल हृदयसे मिलनेकी वड़ी चाह है (मनोरमाके गलेमें पुष्पहार पहिनाती है)

मनो०—(हास्य मंजरीसे) मालन भी वड़ी चतुर मालूम होती है परन्तु चलो वहन अव और आगे वढ़ें।

हास्य०—(आगे वढ़कर आश्चर्यसे) प्यारी, यहां तो कोई पुरुषका सा शब्द कर्णगोचर होता है। (चम्पासे) अरी चम्पा, उस वृक्षके नीचे देख तो कौन पुरुष वैठा है?

(चम्पाका जाना)

मनो०—वहन, आज मेरा वाम नेत्र फड़कता है अतएव मेरी समझमें अवश्य कोई महात्माका दर्शन होगा।

(चम्पाका आना)

चम्पा०—वाई साहेव, वहां तो कोई महात्मा वृक्षके नीचे वैठ णमोकार मन्त्र जप रहे हैं।

मनो०—सखो, मैंने कहा वही हुआ? चलो अव चलकर उनके दर्शन कर जन्म सफल करें।

(सवका उनके पास जाना और नमोस्तु करना)

मुनि०—क्यों कन्या, तुम कौन हो? और तुम्हारा इस पुष्प वाटिकामें आगमन कैसे हुआ?

मनो०—(नम्रता पूर्वक) महाराज, मैं इस नगरके धनदत्त सेठकी कन्या हूं और मनोरमा मेरा नाम है। ये सब मेरी सहेलियां हैं। आज इनके साथ उद्यान क्रीडा करनेको यहां आयी थी। अकस्मात आपके दर्शन हो गए मेरी बहुत दिनोंसे उत्कंठा थी कि आप समान महात्माओंका दर्शन हो। अहो भाग्य कि आज आपका दर्शन हो गया। महाराज, अब आप उपदेश दे मुझे कृतार्थ कीजिये।

मुनि०—पुत्री, तुझे जो कुछ प्रश्न करना हो कर; मैं तेरे मनका संशय दूर करूंगा।

मनो०—महाराज, इस संसारमें प्राणिमात्र ईश्वर २ कहा करते हैं सो क्या उन्होंने ईश्वरका कोई स्वरूप निश्चय किया है ?

मुनि०—मनोरमा, इस संसारमें जितने मनुष्य हैं वे या तो दूसरोंकी देखा देखी अथवा किसी भयसे ईश्वर-ईश्वर कहा करते हैं और जो कहते हैं कि हमने ईश्वरका स्वरूप निश्चय किया है वे वृथा भोले पुरुषोंको बहकाते हैं। क्योंकि उस निरंजन निराकारका स्वरूप निश्चय करना कठिन ही नहीं वरन असम्भव है। उसका स्वरूप ढूंढ़ते फिरनेकी अपेक्षा तो विषय कषायोंको त्याग सुचरित्रसे जन्म व्यतीत कर अन्तमें मुक्ति पाना ही उत्तम है।

मनो०—महाराज, स्त्री धर्म क्या है ?

मुनि०—शील, जोकि दो प्रकारका होता है। एक ब्रह्मचर्य दूसरा गृहस्थी। संसारी जीव ब्रह्मचर्यका पालन नहीं कर सकते अतएव उनके लिये गृहस्थी शीलधर्म नियुक्त है।

मनो०—महाराज, कृपाकर यह भी बतलाइए कि गृहस्थी शील धर्मका पालन कैसे होता है ?

मुनि०—पुत्री, स्वपतिसे सन्तोष रखना, परपुरुषको मन वचन काय करके कदापि नहीं इच्छा करना, पतिकी सेवा करना, सास ससुरकी आज्ञा पालन करना और सब दूसरोंको पिता, भ्राता व पुत्रके समान देखना इसीका नाम शील धर्म है। शीलके समान स्त्रियोंके लिये दूसरा कोई धर्म नहीं है। हे पुत्री, अतएव तू सदैव शील धर्मका पालन करना। यही धर्म तेरी आपत्तियें दूर करेगा और अन्तमें अष्ट कर्मका नाश कर, मोक्ष रूपी परम सुखकी प्राप्ति करावेगा।

मनो०—(हाथ जोड़कर) महाराज, मैंने सब श्रवण किया और अब आपके सूर्यरूपी उपदेशसे मेरे मनके अज्ञान-तिमिरका नाश हुआ। अब मैं सदैव शीलधर्मका पालन करूंगी।

द्वितीय अंक।

(प्रथम–गर्भांक)

(स्थान—सुखानन्द का शयनागार)

सुखा०—(प्रवेश करके आप ही आप) देखो ! नित्य कर्मके परिश्रम से क्लान्त मनुष्य को रात्रि कितनी सुखकर मालूम होती है ! कैसा भी परिश्रम क्यों न हो; परन्तु विश्राम की आशा से ही वह दूर हो जाता है। आज दूकान में अधिक कार्य करने से मुझे कुछ थकावट सी जान पड़ती है और थकावट में मनुष्य को बुद्धि

स्थिर नहीं रहती अतएव अब चलकर शयनागार में विश्राम करना चाहिये। (आगे बढ़कर आश्चर्य से) परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है, कि अभीतक प्राणप्यारी नहीं आई ? नित्य तो मैं जब यहां आता था तब मैं उसे मार्गप्रतीक्षा करतेही पाता था; परन्तु आज क्यों बिलम्ब हुआ ? आती ही होगी चलो ज़रा बिश्राम तो करूं। (पलंगपर जाकर बैठ जाना मनोरमा का प्रवेश) (मनोरमा से) प्राण प्यारी ! आज तुम्हें आने में बिलम्ब क्यों हुआ ?

मनो०—(नम्रता पूर्वक) प्राणनाथ ! बिलम्ब ? बिना गृहकार्य पूर्ण किये और सास ससुर की आज्ञा के कैसे आऊं ?

सुखा०—प्राणप्रिया ! तुम्हारा कहना सत्य है। गृहकार्य करना, सास ससुर की आज्ञा पालन करना और पति की सेवा करना यह भी स्त्री का एक धर्म है। प्रिये ! तुम हमेशा सास ससुर की आज्ञा पालन करती रहो इसीमें तुम्हारा कल्याण है (मनोरमा का हाथ पकड़कर) परन्तु प्यारी, समुद्र में नदी और दूधमें पानी मिलकर पृथक नहीं होते फिर तुम मुझसे अलग रहो यह नई बात क्यों करती हो ?

मनो०—प्राणनाथ, मछली जलके बिना और कुमुदिनी चन्द्रमा के बिना नहीं रह सक्ती; तब भला मैं आपके बिना कैसे रह सकती हूं।

सुखा०—(हाथ दृढ़तासे पकड़कर) भला प्यारी, कहीं तृण भी गौके मुखमें जाकर फिर बाहर आता है ?

मनो०—मुझ को लज्जा मालूम होती है।

सुखा०—इसमें लज्जा काहे को ?

मनो०—मेरी सखियां आजावेंगी।

सुखा०—प्यारी, तुम्हारी सखियें तो चतुर हैं। वे सब जानती हैं। यह चातक स्वातिके बिंदुकी प्रतीक्षा कर रहा है।

मनो०—(गले लगाकर) प्राणनाथ, मैं इस उपमा के योग्य कब हूं ? हम स्त्री जातितो सदैव अपढ़, मूर्ख और अज्ञान गिनी जाती हैं।

सुखा०—नहीं प्रिये , ऐसा मत सोचो। जो पुरुष अपनी स्त्री को अपने से मूर्ख समझ, उससे घृणा करते हैं और उस से संतुष्ट न हो पराई स्त्री की लालसा करते हैं वे सदैव असन्तुष्ट रहते हैं। उनको कहीं भी सुख नहीं मिलता और इस संसार में दुःख उठा अंत में वे नरक जाते हैं। और कहा भी है, कि "नारी निंदा मत करो, नारी नर की खान। नारीसे नर ऊपजे, ध्रुव प्रह्लाद समान। आओ , अब विश्राम कर शारीरिक और मानसिक परिश्रम दूर करें।

मनो०-प्राणनाथ ! आप विश्राम करें में आपकी सेवा करती हूं।

सुखा०—नहीं सुन्दरी, तुम्हारे कोमल हाथ इस योग्य नहीं।

मनो०—प्राणनाथ, हम भारत की ललनायें पति को ईश्वरवत् समझती हैं पति सेवा हमारा भूषण है। अतएव आप निश्चिन्त हो विश्राम करें, मैं आपकी चरणसेवा करूंगी।

सुखा०—(सोते सोते स्वगत)मनोरमा के समान सर्वगुण सम्पन्न स्त्री पाकर मैं अपने को सुखी समझता हूं; परन्तु यह

सुख सब क्षणिक है। अन्तकाल सब यहां का यहां ही रह जावेगा। केवल सच्चा साथ देनेवाला धर्म ही है। बाल्यावस्था से ही, जब कि मैं विद्याध्ययन करता था, मेरा मन जागृत हो चुका था, कि किसी प्रकारसे भी अपने हाथ से अपने कुल का, जातिका, धर्मका और देशका कल्याण हो। परन्तु यौवनावस्था को प्राप्त होते ही इस सुख में लिप्त रहने से मैं भूल गया। यदि अब भी न चेतूं तो जो अंकुर मेरे मन में उत्पन्न हुआ था वह यहीं मुरझा जायगा। अब तो मुझे चाहिये कि किसी प्रकार से भी तो देशोपकार करूं, कारण अपने देश का उपकार करना मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है।

मनो०—(हाथ पकड़कर) प्राणनाथ, आज आप को अभीतक निद्रा क्यों नहीं आई ? और आपकी मुद्रा भी चिंतातुर दिखाई देती है।

सुखा०—चिंता कुछ नहीं। एक ऐसाही विचार उत्पन्न होगया उस विचार की तरङ्ग में निद्रा भङ्ग होगई।

मनो०—शास्त्र ने स्त्री को पुरुष की अर्धाङ्गिनी कहा है और पुरुष को उचित है कि अपने सुख दुःख उसे सुनावे।

सुखा०—प्रिया, तुम जानती हो कि मैं इस समय पिता के भाग्यसे हो भोग विलासादि कर रहा हूं। मैंने अभी तक किसी प्रकार का भी उद्यम नहीं किया। मेरे अब यह विचार हुआ है कि किसी प्रकार का उद्यम करूं क्यों कि मैं नहीं कह सकता कि निरुद्यमी बैंठे हो रहने से भविष्य में क्या होगा ?

मनो०—प्राणनाथ ! क्या सरिता के समान समुद्र को भी शुष्क

हो जाने का भय हो सकता है ? आप तो सुखसागर हैं।

सुखा०—तुम्हारा कहना यथार्थ है; पर लक्ष्मी तो चंचल है यह मनुष्य को क्षण में राजा और क्षण में रंक बनाती है। जो नर लक्ष्मीवान् होकर भी उद्यम नहीं करते हैं उन्हें लक्ष्मी के चले जाने पर भिक्षा मांग के पेट भरना पड़ता है। फिर मैं निरुद्यमी होकर बैठा रहूं तो कितनी मूर्खता की बात है; निरुद्यमी पुरुष का जीवन पशु पक्षियों से भी अधम है॥

मनो०—आपका कहना सत्य है और मैं भी नहीं चाहती कि आप निरुद्यमी होकर बैठे रहें, आप के पिता के पास किस वस्तु का अभाव है ? आप चाहे जितना उद्यन कर सकते हैं।

सुखा०—(प्रगट) मैं केवल सन्मान व सम्पत्ति का भूखा नहीं हूं, मेरा ध्यान देशोपकार की ओर भी लगा रहता है। मेरी इच्छा है कि ऐसा काम करूं कि जिससे लाभ व यश दोनों मिले व देशका उपकार भी हो। पिताजी जिस प्रकार से व्यापार कर रहे हैं उससे मेरा मनोरथ पूर्ण होने की सम्भावना नहीं है।

मनो०—तो आप किस प्रकार के उद्यम से अपना मनोरथ सिद्ध होना समझते हैं ?

सुखा०—मनोरमा, मेरा विचार है कि बाहर जाकर व्यापार करूं।

मनो०—प्राणनाथ, आप यह क्या कहते हैं ? ऐसा कदापि नहीं हो सक्ता।

सुखा०—प्रिये, तुम नहीं जानती कि विदेशी व्यापारी हमारे

देश को आते हैं और अपने देश की वस्तुयें विक्रय कर हमसे लक्ष्मी लूट ले जाते हैं, और हम अपने देश की वस्तुओंकी कुछ भी उन्नति नहीं करते। हमको भी विदेश जाकर अपने यहां की वस्तुयें वहां विक्रय करना चाहिये और व्यापार की उन्नति करना चाहिए। प्राणप्यारी, वर्तमान व्यापारप्रणाली से देश को कुछ लाभ होने की आशा नहीं है, अतएव मेरी इच्छा है कि मैं हन्सद्वीप को जा व्यापार करूं।

मनो०—प्राणनाथ, मैं सब समझ चुकी, परन्तु आपके ऐसे वचन सुनकर मेरा तो कलेजा धड़ धड़ करता है। नहीं नहीं प्राण नाथ, यह कदापि नहीं हो सक्ता। आप यहां ही सुख भोग करें। आपके पीछे मेरी कौन रक्षा करेगा ?

सुखा०—प्रिये, इसे ही तो स्त्री हठ कहते हैं, क्या तुम नहीं जानती कि पिताजी अब भी तुम्हारी रक्षा कर रहे हैं और आगे भी करेंगे ? प्रिये, तुम प्रसन्नचित्त हो आज्ञा दो तो मैं विदेश यात्रा करूं।

मनो०—(शोक पूर्वक) नहीं, नहीं, प्राणनाथ, यह कदापि नहीं हो सक्ता। आपके चरणारविंदों को छोड़ना यह मन नहीं चाहता फिर क्यों आप इतने कठोर बने जाते हैं ?

सुखा०— प्राणप्रिये, वैसेही यह चित्त चकोर तुम्हारे चंद्र मुख को निरखे बिना धैर्य धारण कदापि नहीं कर सकेगा; परन्तु चित्तोत्साह के भी नहीं रह सक्ता हूं। तुम अब प्रफुल्लित हो आज्ञा दो।

मनो०—प्राणवल्लभ, जिन नयनों को आप की मनोहर मूर्ति निहारने की वान पड़ गई है वे अब किस प्रकार धैर्य धारण कर सकेंगे।

सुखा०—प्रिये तुम शोक को त्याग करो और विचार कर मुझको अनुमति दो।

मनो०—प्राणेश्वर, आप इस दासी को छोड़ कहीं जाने का नाम न लें।

सुखा०—(स्वगत) क्या करूं ? इसका प्रेम देख मेरा हृदय पिघला जाता है परन्तु यदि परदेश न जाऊं, तो मेरा आशारूपी वृक्ष मुरझा जावेगा (प्रगट) प्रिय, धैर्य धारण करो, मैं शीघ्र लौटकर मिलूंगा।

मनो०---यदि आपका यह दृढ़ निश्चय है, तो और कुछ दिन यहां निवास करें, फिर जाइये।

सुखा०---प्रिये, इससे क्या होगा ? अब तुम प्रसन्न होकर मुझे अनुमति दो। देखो तेजस्वी दिवाकर अपनी उष्ण किरणोंसे दशों दिशाओंको दीप्त करता पूर्वमें दिखाई देने लगा है।

मनो०--प्राणेश्वर, यदि आपकी ऐसी ही इच्छा हो तो आप मुझे भी साथ ले चलें।

सुखा०---नहीं प्रिये, विदेशमें स्त्रीको संग ले जाना उचित नहीं। तुम तो स्वयं ही समझदार हो। तुम निश्चय रखो, मैं शीघ्र ही आकर मिलूंगा।

मनो०--प्राणनाथ, यदि आप इतना भी नहीं स्वीकार करते

तो आपको इच्छा। मैं भी प्रफुल्लित हो आपकी आज्ञा अंगीकार करतो हूं, परंतु मेरी एक प्रार्थना है यदि आप स्वीकार करें तो कहूं ?

सुखा०---भला प्रिये, तुम्हारा कहना मैंने कब नहीं सुना ?

लनो०---प्राणनाथ, विदेशी स्त्रियां चंचल होती हैं। उनसे सावधान रहें। यही मेरी प्रार्थना है।

सुखा०---प्रिये, तुम्हारा कथन यथार्थ है और मैं उसे स्वीकार करता हूं। अब मैं जाता हूं। प्रथम माता पिताकी आज्ञा लूंगा और फिर हंसद्वीपको जाऊंगा।

(इति प्रथम गर्भांक समाप्त)

[द्वितीय-गर्भांक]

स्थान—राजभवन

(राजकुमार एक कुर्सी पर बैठा सोच रहा है।)

अजित---(प्रवेश करके) कहिए मित्र, कामसेन जी, आज तो आप उदासीन दिखलाई देते हैं, आप तो राजकुमार हैं। आप के उदासी होनेका क्या कारण ?

कामसेन---मित्र, अजितसेन, क्या कहूं ? कुछ कहा नहीं जाता। कहनेको तो जी चाहता है, परन्तु गला सूखा जाता है।

अजित---राजकुमार, ऐसा कौनसा दुःख है कि आप बोल

नहीं सकते ? आप निश्चिंत हो कहें। मैं आपका दुःख दूर करने का प्रयत्न करूंगा।

कामसेन--भाई अजितसेन, यह तो मैं जानता हूं कि आप के सिवा दूसरा कोई मेरा दुःख दूर नहीं कर सकता, परन्तु लज्जा के मारे मैं आपके सन्मुख निवेदन नहीं कर सकता।

अजितसेन--राजकुमार क्या आपकी कोई बात मुझसे छिपी है जो मुझसे यह छिपाते हैं ? आप अवश्य मुझपर अपने दुःखका कारण प्रगट करें। मैं आपको उससे मुक्त करनेका उपाय करूंगा। भाई, तुमतो सुखके निधि हो फिर तुम्हारे दुःखका क्या कारण ?

कामसेन--"प्रेम"

अजित०—हे मित्र यह क्या कहते हो ? क्या किसी मनोमोहिनीने मोहनी डाल मन मोह लिया है जिसके प्रेम में व्याकुल हो रहे हो ? भला मैं भी तो उस चित्त चोर का नाम सुनूं !

काम०—मित्र, कल संध्या के समय नियमानुसार मैं पुष्पवाटिकाको जा रहा था। मार्गमें क्या देखता हूं कि एक सोलह वर्ष की नवेली, अपनी अटारीपर बैठी है मित्र, उसको देख मेरी तो सुधबुध जाती रही। उसके तीक्ष्ण नेत्रबाणोंने मेरे हृदय को घायल कर दिया। मेरा मन हाथसे निकल गया। अब उसकी मनमोहिनी मूर्ति मेरे मनमें बस रही है। जबतक वह सुन्दरी मुझको नहीं मिलेगी तब तक जल पान नहीं करूंगा।

अजित०—मित्र, अल्पवस्तुके लिए आप इतने व्याकुल क्यों होते हैं ? आप तो राजकुमार हैं। फिर यह कौन सी बड़ी बात है ?

ज़रा सी बातके लिए खान पान तज, वृथा शोक कर, प्राण त्यागना मनुष्यता के बाहर है। आप निश्चिंत हो उस मृगनयनी का पता बतावें। मैं आपसे उसको मिलानेका प्रयत्न करूंगा (मनमें) अवश्यमेव ये कोई परस्त्री के ऊपर मोहित हो गये हैं। यदि इनको ऐसा करनेसे एक बार ही मना करता हूं, तो ये नहीं मानेंगे और उलटे मुझसे क्रुद्ध हो जायँगे, अतएव प्रथम तो इनकी हाँ में हाँ मिलाकर प्रसन्न करना चाहिये फिर अपने उपदेशसे ढंग पर लाऊँगा।

काम०—भाई, मैं तो उसकी प्यारी प्रतिमाको देख ऐसा पागल होगया कि उसको पहिचान भी नहीं सका; परन्तु अनुसंधान करने से विदित हुआ कि वह महिपाल सेठ सुखानन्द की पत्नी है और उसका नाम मनोरमा है। मित्र, क्या कहूं ? उस चन्द्रवदनी की नाज भरी चितवन और मनको मोहकर मत्त करनेवाली मनोहर मूर्ति मुझे घायल किये डालती है। मित्र, उसके रूपकी मैं कहांतक प्रशंसा करूं ? यदि ब्रह्मा भी उसकी प्रशंसा करनेमें असमर्थ है।

अजित०—मित्र, तुम बावले तो नहीं हुए हो जो ऐसी बात करते हो ? तुम तो स्वयं बुद्धिमान हो और सदैव मुझको उपदेश करते रहते थे। आज आपको क्या होगया जो जरा भी धैर्य नहीं धारण कर सक्ते। देखो मित्र, यह प्रेम का पंथ बड़ा कठिन है, और जिस स्त्री के ऊपर आप मोहित हो गए हो वह बड़ी पतिव्रता है। पतिव्रता का शील भंग करना, कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव है, कारण उनके शील की रक्षा स्वयं ईश्वर करता है। क्या

तुमने रावण दुर्योधनादि की कथा नहीं सुनी ? अतएव आप उसकी सुधि विसार दें, नहीं तो व्यर्थ कष्ट उठाना होगा और अन्त में हाथ भी कुछ नहीं आवेगा।

काम०—मित्र, चाहे जो हो, मैं तो उस स्त्रीके मोहके वशीभूत हो चुका। हाथीके दांत वाहर आनेपर भीतर नहीं जाते और योद्धागण रणमें उपस्थित हो पीठ नहीं दिखाते। चाहे प्राण रहे चहे जांय। मैंने तो निश्चय कर लिया है कि यदि वह समझाने पर नहीं मानेगी तो वलात्कार करूंगा।

अजित०—(स्वयं) वाहरी वीरता ! (प्रगट) मित्र, कायरों कीसी वातें क्या करते हो, स्त्री जातिपर वलात्कार करना धर्म विरुद्ध है, कारण उनका नामही अवला है। इससे तो अपने मद भरे मनको जीतकर सच्ची वीरता प्रगट करो। वृथा प्राण न दो।

काम०—भाई, किसी किसीका कहना है कि धर्म और प्रेमसे कुछ भी सम्वन्ध नहीं। इसके तो मार्ग ही जुदे हैं। मुझे तो उसके विना दूसरी कोई भी वस्तु अच्छी नहीं मालूम होती।

अजित—मित्र, चाहे जो हो; परन्तु यह मार्ग वहुत वुरा है। मेरी सीख मान लो और इस मार्गपर मत जाओ। यदि प्रेम करना ही है तो ईश्वरसे करो जिसमें भक्ति मुक्ति दोनों ही मिले। मेरा कार्य तो आपको समझानेका है यदि न मानें तो आपकी इच्छा। अन्तमें पछताना होगा।

काम०—मित्र ! प्रेमी जन प्रेममें पड़ जानेपर प्राणोंकी परवाह नहीं करते। परिणाम चाहे जो हो, परन्तु अब प्रयत्न करना ही

उचित है। मित्र, आपके सिवाय अब कौन सहायता कर सकता है ? आप ही अब उपाय बताइये।

अजित०—मित्र, यह कार्य मेरी सम्मतिके विरुद्ध है, इतनेपर आप यदि न माने तो आप जो चाहें करें।

काम०—(स्वगत) मेरी रायसे तो एक दूती उसके पास भेजी जाना चाहिये क्योंकि वह इस कार्यमें बड़ी चतुर होती हैं, और जो जिस कार्यमें कुशल हो उसीसे वह कार्य्य कराना चाहिये। और एक पत्र मनोरमाको उसके हाथ भेजना चाहिये।

अजित०—मित्र, पतिव्रता स्त्रियोंको मदन कितना भी सतावे उसके वशीभूत नहीं होतीं, और न वे स्वरूपकी इच्छा करती हैं। उन्हें स्वपतिसे ही सन्तोष रहता है (स्वगत) अभी तो इनके मन की कर लेने देता हूं, क्योंकि इससे उसकी कुछ भी हानि नहीं, परन्तु यदि यह बलात्कार करेगा, तो मैं उसकी रक्षा करूंगा।

अजित०—लीजिये मित्र, यह दूती उपस्थित है।

काम०—भाई ! यह पत्र तो सुन लो। फिर दूतीको भेजते हैं।

प्राणप्यारी मनोरमा, मैं तुम्हारे बिना प्राण नहीं धारण कर सकता हूं। प्रिये ! वह कौनसी शुभ घड़ी होगी कि मैं तुम्हारा मुख अवलोकन कर चित्तको शान्त करूंगा ? अब तुम्हारे बिना पल पल वर्षोंके समान व्यतीत हो रहा है। प्रिये, इस दीनपर दया करो और प्रेमका दान दो। यहांपर तुम्हें सर्वप्रकारका सुख मिलेगा।

आपका प्रेमाभिलाषी—

कामसेन

क्यों मित्र, ठीक है ना ?

अजित०—(आप ही आप) सत्य है, जो जिसके प्रेममें फँस जाता है उसको सर्वत्र वही दिखाई देता है। राजकुमारने इस समय यह कहावत सत्य कर दिखाई है कि 'कामांधो नैव पश्यति।' विश्वास नहीं कि मनोरमा सी पतिव्रता स्त्री पतिके परोक्षमें सोलह श्रृङ्गार कर अटारी पर बैठे, परन्तु उसका क्या दोष ? कामसेन उस पर जब मोहित ही हो गया है, तो फिर उसकी प्रशंसा क्या करेगा?

दूती०—महाराज, यह कार्य करते करते मेरे केश श्वेत हो गये। बड़े २ घरानोंकी पतिव्रता स्त्रियोंके प्रण मैंने छुड़वा दिए। तो यह क्या बड़ी बात है ? आप निश्चिंत रहें, मैं तुरन्त आपका कार्य सफल कर आती हूं।

काम०—(विदग्धसेन) कहिए मित्र, आप क्या आज्ञा करते हैं ?

अजित०—मित्र, मेरी रायमें तो आप इस कार्यमें कदापि सफल नहीं होंगे। कारण वह स्त्री बड़ी सुशीला है और उसके शीलकी प्रशंसा सर्वत्र नगरमें हो रही है।

काम०—चाहे जो हो, प्रयत्न तो अवश्य करूंगा। मित्र मैं क्या करूं ? मैं बहुत चाहता हूं कि धैर्य धरूं; परन्तु यह मन बिलकुल धैर्य नहीं धरता। हाय ! अभी दूती भी नहीं आई।

अजित०--ऐसी क्या बातें करते हो ? (दूतीका आना)

काम०--(दूतीसे) क्योंरी, कार्य सफल हुआ ?

दूती०—महाराज, सफल तो क्या ? परन्तु कुशल हुई जो मेरे प्राण बच गये।

काम०—ऐं, यह क्या कहती है?

दूती०—राजकुमार, मैं जिस समय उस सुन्दरीके पास गई, तो उसकी सभ्यता देखकर चकरा गई। प्रथम तो उसने खूब मेरा आदर सत्कार किया; परन्तु जिस समय मैंने आपका पत्र दिखाया उसकी क्रोधाग्निकी सीमा न रही और कहने लगी तुम अभी यहांसे चली जाओ। तुम मुझसे वृद्धा हो, नहीं तो अभी इस कार्यका मजा चखाती। राजकुमार, मैं तो उसका शीलव्रत देखकर दंग रह गई।

काम०—(स्वगत) हा परमेश्वर, यह क्या हुआ? मैं तो और ही कुछ आशा करता था। अरी दूती, उसने मेरे सम्बन्धमें कहा?

दूती०—महाराज, आपको यह पत्र दिया है।

भाई कामसेन, तुम्हारा पत्र पहुंचा। यद्यपि तुम्हारा पत्र उत्तर देने योग्य नहीं है, तुमने अपने पत्रमें मेरी प्रशंसा कर एक तरहसे मेरे शीलमें दोष लगाया है, अतएव मुक्त होनेके लिये यह उत्तर देना आवश्यक है। राजकुमार, तुम्हें ऐसा अनुचित पत्र लिखते लज्जा नहीं आई? क्या तुम संसारमें इसीलिये श्रेष्ठ बने हो? तुम क्यों नहीं स्वपत्नीमें सन्तुष्ट रहते? प्रथम तो आप राजपुत्र हैं इसलिये मेरे अनुज हुए। आपने जो मेरी प्रशंसा की, सो चन्द्रमा तारागणोंसे रूपवान हैं, परन्तु सूर्यसे नहीं। संसारमें पतिके सिवाय सब मेरे बन्धुके समान हैं। कुशल तो इसीमें है कि अब आप इस मार्गमें न जावें। नहीं तो इनका परिणाम तुम्हारे पक्षमें बुरा होगा। राजकुमार पराई स्त्रीकी इच्छा करना बड़ा दोष है। किं बहुना—

आपकी बहिन "मनोरमा"

कहिये मित्र, अब क्या उपाय है ?

भाई, मैंने तो पहिले ही कहा था; परन्तु तुमने मेरे कहनेपर ध्यान हो नहीं दिया।

काम०—तो मित्र, क्या अब शान्त बैठे रहना चाहिये ?

दूती—महाराज, मैंने ऐसी पतिव्रता स्त्री संसारमें नहीं देखी।

काम०—अरी दूती, उसने आज हमारा बड़ा अपमान किया। इसका बदला उसको मिलना चाहिये।

दूती०—महाराज, आप राजकुमार हैं, और आपके किस बात की कमी है। आप चाहे जो कर सकते हैं।

काम०---नहीं दूती, पिता पद्मसेन बड़े न्यायी हैं। प्रकट रीति से मैं उसको दंड नहीं दे सकता।

दूती०---राजन्, मैं आपकी आज्ञा पालन करनेको तत्पर हूं।

काम०---तो तू अब उसके सास ससुरके पास जा और कह कि तुम्हारी बहू तो राजकुमारसे सम्बन्ध रखती है।

दूती०---यह भी ठीक, यह कार्य तो अभी करती हूं। उसको घरसे निकलवाना कुछ कठिन नहीं है।

काम०---मित्र, उस स्त्रीको अपने रूपका गर्व है। चाहे जो हो हम अपने अपमानका बदला अवश्य लेंगे।

[तृतीय गर्भाङ्क]

स्थान—महान् घोर जंगल ।

(आगे २ मित्रसेन और तदुपरांत मनोरमाका प्रवेश)

मित्र०—(स्वयं) परमेश्वर की लीला अपार है। पलमें मनुष्य को रंक और पलमें राजा बनाता है। देखो, इस अबलाने पूर्व जन्ममें कौन पाप किया है कि जिनका फल इसको अब भोगना पड़ता है। मेरे जानते तो यह स्त्री निर्दोष है और इसके समान पतिव्रता स्त्री संसार में होना असम्भव है, फिर न मालूम क्यों इसके ससुरने एक अधम स्त्रीके कहने पर इसको व्यभिचारिणी मानली और मुझे यह आज्ञा दी कि इसे नैहर ले जाने के मिससे घोर जंगल में छोड़ आ, हा परमेश्वर, यह मेरी स्वामिनी है और पतिव्रता नारी है। इसके पति मेरे स्वामी और मित्र थे और जब वे विदेश गए तो मुझको कह गए थे इसको रक्षा करना। अब मै इसको कैसे जंगलमें छोड़ जाऊं ?

मनो०—(स्वगत) जबसे मेरा विवाह हुआ है तबसे न तो मैं कभी नैहर गई और न कभी माता पिता का दर्शन किया। जब तक प्राणनाथ थे तबतक न तो कभी मैंने नैहर जाने का नाम लिया और न कभी सास ससुर ने आज्ञा दी, परन्तु आज बिना कारण अनायास उन्होंने क्यों मुझे जाने की आज्ञा दी है, माता पिता के घर जाना किसको बुरा मालूम होता है ? परन्तु मैं कोटिध्वज की बहू हूं। बिना बुलाये जाना योग्य नहीं। मेरे साथ नौकर चाकर

भी नहीं दिये. केवल एक सारथीहो को साथ भेज दिया है। क्या बात है, मेरी तो कुछ समझ में नहीं आया। प्राणनाथ परदेश गये हैं। उनके परोक्ष में यह कथा, मुझको तो शंका होती है। इस घोर जंगल को देख मेरा तो कलेजा कांपता है (प्रगट) मित्रसेन, ऐसा ज्ञान पड़ता है कि तुम थक गए हो, तुम्हारे पैर भी नहीं उठते और तुम फिर २ कर मेरी तरफ देखते जाते हो, इसका क्या कारण?

मित्र०—(स्वगत) परमेश्वर, इसे अब मैं क्या उत्तर दूं ? जो स्वप्न में भी अपने पति ही का ध्यान रखती थी उसपर ऐसा कलङ्क ? अब यदि मैं स्वामी की आज्ञा भंग करता हूं तो पातकी ठहरता हूं। परन्तु इसपर कटुशब्दों का प्रयोग भी तो कैसे करूं (प्रगट) मैं तो नहीं थका, परन्तु तुमही थकी जान पड़ती हो जो तुम पीछे रह जाती हो।

मनो०—हे भाई मित्रसेन, तुम्हारा कहना सत्य है। इस निर्जन जङ्गल को देख मेरा तो हृदय कांपता है। और यह मार्ग तो उज्जैन नगरी का नहीं जान पड़ता, फिर न मालूम तुम मुझे कहां लिये जाते हो ? तुम मेरे भाई समान हो। सत्य २ कहो क्या बात है ?

मित्र०—हे सुकुमारी,मैंने पूर्व जन्ममें कई पातक किये होंगे,जिस कारण मुझे चाकर का पद मिला तिस पर भी सुखानन्दजी समान गुणवान् स्वामी से मेरा विछोह हुआ और अब (कंठ रुक जाता है)

मनो०—हे भाई, तुम डरो मत निःशङ्क होकर कहो क्या कहना चाहते हो ?

मित्र०—(स्वागत) हा परमेश्वर, अब इस सेवकसे इस शील-

वती नारी पर कटु शब्दोंका प्रयोग होता है (प्रगट) हे सुन्दरी, अब आपसी पतिव्रता स्वामिनीसे भी मेरा वियोग हुआ चाहता है।

मनो०—हे भाई, तुम तो मुझे अपने पिताके यहां ले जाते हो क्या और कोई बात है ? मित्रसेन, तुम सब सत्य सत्य कहो।

मित्र०—तुम्हारे ससुरने मुझे आज्ञा दी है कि इसे नैहर ले जानेके बहानेसे महान घोर जंगलमें छोड़ दो जिससे फिर अपना काला मुख न दिखावे।

मनोरमा—(स्वागत) हा विधाता, विना बादल यह विजली कहांसे आई ? मुझ पर ससुरजीका इतना कोप ? (प्रगट) भाई मित्रसेन, तुम्हें मालूम भी है कि मुझे घरसे क्यों निकालनेकी आज्ञा दी ?

मित्र०—(स्वयं) हाय, इसे अब क्या कहूं ? मुझको कहनेमें लज्जा आती है। (प्रगट) बहन, एक अधम स्त्रीने आकर आपके सास-ससुरसे कहा कि तुम्हारी स्त्री व्यभिचारिणी है और आपको यह दोष लगाया कि आप राजकुमारसे सम्बन्ध रखती हैं। आपके ससुरने यह सुनकर ऐसी आज्ञा दी है।

मनो०—हा दुर्दैव, परम शीलको धारण करके भी व्यभिचारिणी कहाना मेरे प्रारब्धमें था। (प्रगट) हे भाई मित्र मित्रसेन, अब मेरी लाज तुम्हारे हाथ है।

मित्र०—प्रथम तो जिस प्रकार तुम्हारे ससुर मेरे स्वामी हैं उसी प्रकार तुम्हारे पति भी मेरे स्वामी हैं। और दूसरे आपके पति मेरे मित्र भी हैं। आपकी आज्ञा मुझे सर्वोपरि मान्य है। आप जो कहें सो मैं करनेको तत्पर हूं।

मनो०—हे भाई, यदि तुम इतना उपकार करने ही पर तत्पर हुए हो तो मुझे अपने पिता ही के यहां पहुंचा दो।

मित्र०—हे पतिव्रते, मैं उपकार नहीं करता, वरन् अपना कर्तव्य पालन करता हूं। मैं तुम्हें अपने पिताके यहां पहुंचा दूंगा। यद्यपि मुझे असत्य भाषण कर पाप कमाना होगा; तौ भी तुम्हारी सहायता करना मैं अपना धर्म समझता हूं। चलो अब चलें।

मनो०—धन्य है सारथि, तुम समान सेवकको धन्य है, मैं इस उपकारका बदला नहीं दे सकती, अब मैं बहुत थक गई। अब यहां से उज्जैन नगरी कितनी दूर है?

मित्र०—उज्जैन नगरी तो अब यहाँसे निकट ही है। अब आप तुरन्त अपने माता-पिताका दर्शन पावेंगी।

मनो०—हे भाई, मुझे अपने माता-पिताके मिलनेका जो हर्ष है उससे अधिक झूठे कलंकका दुःख अधिक है (स्वागत) हा दैव, मैंने कौनसे पातक किये हैं कि जिससे मुझको ऐसा कलंक लगा?

मित्र०—तुम इसकी चिन्ता मत करो। पूर्व कर्म के फलका ही प्रारब्ध है और प्रारब्ध प्रतिकूल होनेसे महान सत्कर्मका फलभी नष्ट हो जाता है।

मनो०—भाई,? तुम्हारा कहना मुझे सर्वोपरि मान्य है; परन्तु पिताके यहां विना बुलाये मैं कैसे जाऊं? पिता विना सवारीके मुझे पैदल देखेंगे तो क्या उन्हें आश्चर्य नहीं होगा! यदि वे आने का कारण पूछेंगे तो मैं क्या उत्तर दूंगी!

मित्र०—तुम्हारा कहना सत्य है, परन्तु अब इसका क्या

उपाय किया जाय ? मेरी समझमें तो तुम यहां ही ठहरो। मैं आपके पिताको आपके आनेका समाचार देता हूं।

मनो०—हे सारथि, तुम जाकर तुरन्त लौटना और सब वृतांत कह देना। तबतक मैं यहां ही ठहरती हूं। (मित्रसेनका गमन।)

मित्र०—(रोते हुए) उठिए, दैव जिसके प्रतिकूल रहता है उसके सब कोई प्रतिकूल हो जाते हैं।

मनो०—(खड़े होकर) हे भाई, तुम रुदन क्यों करते हो। क्या वृतान्त है सो सब स्पष्ट कहो।

मित्र०—तुम्हारी आज्ञानुसार मैं तुम्हारे पिताके पास गया। प्रथम तो तुम्हारा आगमन सुन वे बड़े प्रसन्न हुए और मेरा बड़ा आदर सत्कार किया, परन्तु जब आपके आनेका कारण सुनाया तबः...

(रोते रोते चुप हो जाता है।)

मनो०—हे भाई, तुम रुदन मत करो और पिता जीने क्या कहा सो सब कहो।

मित्र०—तब आपके पिताने कहा कि ऐसी कलंकिनी पुत्री मेरे घरमें आकर मेरे घरको न लजावे। बहन, आपके पिताको मैंने बहुत समझाया कि तुम्हारी पुत्री निर्दोष है, परंतु उन्होंने एक न मानी और कहा कि उस व्यभिचारिणीसे कहदेना कि तू अपना काला मुंह मुझे मत दिखाना। तुझे जहां जाना हो वहां चली जा।

(मनोरमाका मूर्छित हो गिर जाना।)

(मित्रसेनका जल लाकर मनोरमाके मुखपर छिड़कना)

मित्र०—यह समय साहस खोनेका नहीं है। माता पिता और सास ससुरकी आज्ञा पालन करना तुम्हारा धर्म है।

मनो०—(सचेत होकर ठण्डो सांस भरती हुई) हाय, अब भी कठोर प्राण नहीं निकले। मैंने तो गिरते समय जान लिया था कि सब आपत्तियोंसे छुट जाऊंगी। अरे, आज मैं ऐसी पापिन हो गई कि माता पिताने भी निरादर करके निकाल दी। अब मेरी कौन सुनेगा। हाय विधाता, यह कैसा अनर्थ है! धर्म करते दण्ड मिलता है। प्राणनाथ, आप कहां हैं! आकर रक्षा करो। मित्रसेन तुम अब मुझे इस निर्जन वनमें छोड़ विजिन्ती नगरीको लौट जाओ।

मित्र०—यह क्या कहतोहो। यह मुझसे कदापि नहींहो सकता। मैं ऐसा अधम पुरुष नहीं हूं कि अपनी स्वामिनीको दुःखावस्थामें छोड़ चला जाऊं।

मनो०—तुम जाओ और अपने पुत्रादिकोंका पालन करो। मुझे तो अपने प्रारब्धका लिखा अवश्य भोगना होगा।

मित्र०—स्वामीके सुखसे सेवक सुखी और दुःखसे दुःखी होता है, फिर तुमको छोड़कर मैं कैसे चला जाऊं।

मनो०—मेरी रक्षाका भार तो विधिके ऊपर है। तुम अब हठ को छोड़कर जाओ।

मित्र०—मुझे अपनी भी चिन्ता नहीं है, परन्तु तुम्हारा दुःख मुझसे नही देखा जाता।

मनो०—हे भाई, तुमको अवश्य जाना होगा तुम्हारे न जानेसे मुझे सास ससुर अवश्य दुराचारिणी मान लेंगे। तुम अब मुझे अपनी

कर्मोंके अधीन छोड़ जाओ (रोती हुई) हा परमेश्वर, यह अनायास आपत्ति मुझ पर कहांसे आई। जो मैं ऐसा जानती तो प्राणनाथको विदेश काहेको जाने देती।

मित्र—हे सुशीले, तुम्हें अकेली छोड़नेको जी तो नहीं चाहता परन्तु तुम्हारे आग्रहसे जाता हूं।

मित्र०—तुम्हारे पति जब लौटेंगे तो उन्हें मैं क्या उत्तर दूंगा।

मनो०—तुम जाओ, मुझे अपने कर्मोंका फल भोगने दो।

(मित्रसेनको जाता देखकर आपही आप) हा, परमेश्वर अबतक तो मेरे साथ सारथि भी था, परन्तु अब मैं अकेली इस निर्जन वनमें कैसे प्राण धारण कर सकूंगी ? हा विधाता, एक समय वह था कि जब मैं विशाल भवनोंमें रहती थी और आज एक समय यह है कि मुझे इस महाघोर वनको अपना निवास स्थान बनाना पड़ता है। हे प्रभो, जिस निर्जन वनका दृश्य मैंने स्वप्नमें भी नहीं देखा था उसमें अब मैं किस प्रकार जीवन व्यतीत करूगी।

हा प्राणनाथ ! ! प्रीतम प्यारे ! ! ! माता पिता और सास ससुरने तो मेरा कुछ भी न्याय नहीं किया, परन्तु अब तुम तो आकर इस दासीको इस घोर विपत्तिसे बचाओ। हे जिनवरदेव ! आप सिवाय अब मेरा कोई रक्षक नहीं। आप आकर अब मेरी रक्षा करो, परन्तु सास ससुर माता पिता और परमेश्वर क्या करें जो भाग्यमें लिखा है सो मुझे अवश्य भोगना होगा। हा दैव !

(रुदन करना और मूर्छित होकर गिर पड़ना)

(एक राजकुमारका कई शिकारियोंके साथ प्रवेश)

राज० – (शिकारियोंसे) सच कहो यारो ! जिन्दगीका मजा तो इसीमें है कि खाना पीना और मजे उड़ाना। जिसने राजघराने में पैदा होकर जिन्दगीका मजा नहीं चखा उसने भी कुछ नहीं किया हमारी जातिके लोग फजूल धार्मिक मामलोंमें हाथ डाल सिर पच्ची किया करते हैं वे मनहूस इस मजेको क्या जानें ? क्यों यार ! सच है न ?

शिकारी०—इसमें क्या शक है ? ये लोग फजूल मजहबसे डरा करते हैं। अजी ! जबतक वह देता है तबतक तो मजे उड़ा लेना चाहिये फिर जब न देगा तब देखा जायगा। जिन्दगीमें क्या है ? यार दोस्तोंमें गुलछर्रे उड़ाना, ऐश इशरत करना, शिकार खेलना, बस ! इसीमें तो मजा है नहीं तो जिन्दगी काहेके लिये।

राज०—यार ! मगर शराब भी क्या बढ़िया चीज है ? हमारी बिरादरी वाले पहले तो इससे भूतके मानिन्द डरकर भागते थे, मगर अब तो इसका रिवाज हो गया। मगर यार, आज सुबहसे न मालूम किस बदबख्तका चेहरा देखा है कि कोई शिकार भी नहीं मिला और मिलता भी है तो हाथसे निकल जाता है ?

शिकारी०—राजकुमार ! तुम यहां ही ठहरो। हम आगे जाकर तलाश करते हैं। देखें अब भी हमारी तकदीर लड़ती है या नहीं ?

राज०—मगर भाई ! हुशियारीसे काम करना क्योंकि तुम ही लोगोंके पीछे तो हम नाम कमाते हैं। (मनोरमा मूर्छित पड़ी है)

शिकारी०—व्यसनसेनजी ! देखो, यहांपर एक शेर वेहोश सोता है। इसपर वार करना चाहिये। (दूसरे शिकारीसे) लो यार ! अब क्या देखते हो ? तकदीरको आजमाओ। अगर लड़ गई तो आज इनाम पावेंगे।

राज०—यार, जरा ठहरो ! इस काममें जल्दी नहीं करना चाहिये। क्यों यार ! जिसे तुम शेर समझते थे वह तो कोई औरत दिखाई देती है। वेशक ! यह कोई आफतकी मारी वेचारी राजकुमारी है। देखो दोस्त ! वेहोशीकी हालतमें भी यह कितनी खूबसूरत दिखाई देती है ? यह तेरी शान ! (नजदीक आकर) देखो ! इसके खाविन्दको कितना भाग्यवान समझना चाहिये जो ऐसी औरत उसको मिली ? क्यों भाई ! इसकी खूबसूरतीका मैं कहां तक वर्णन करूं ? इसके चेहरेको देख आफताब भी शरमा जाता है यार ! इसे तो जरूर अपने घर ले चलना चाहिये। इसके साथ ऐश व ईशरत कर जरूर जिन्दगीका मजा उड़ावेंगे (शिकारी मनोरमाको ले जाते हैं)

(इति तृतीय गर्भांक समाप्त)

चतुर्थ गर्भांक

(स्थान—वल्लभपुरीके राजकुमारका भवन)

(पलंग बिछा हुआ है मनोरमा एक ओर वैठी है)

मनो०—(स्वयं रुदन करती हुई)

दोहा—"इक दुखसे छूटी नहीं, दूजो प्रगटो आन।
कहां कहां फिरती फिरूं, रही अकेली जान॥

हा ! परमेश्वर, इस अवलाने ऐसे कौनसे महान पातक किए हैं कि जिनसे इतना घोर दण्ड ? मैंने एक विपत्तिसे न निस्तार पाया कि दूसरी उपस्थित, हा शोक, मुझे तो जब मूर्छा आई थी तब मैंने जान लिया कि अब मैं सब आपत्तियोंसे छूट जाऊंगी परन्तु तौभी ये पापी प्राण न निकले। मेरे भाग्यमें क्या और भी दुःख सहना लिखा है। हे जगदीश, आपका नाम दीनानाथ दीनबन्धू है और मैं दीन हूं, तो फिर आप क्यों नहीं मुझे सहायता कर अपना नाम सार्थक कर दिखाते ? हे अमरेश, धर्मकी रक्षाका भार तुम्हारे ही ऊपर है, फिर तुम भी क्या मुझसे विमुख हो रहे हो ? हे करुणासागर, मेरी लाज अब आप ही के हाथमें है नहीं तो अवश्य यह मदका मारा राजकुमार मेरा शील भंग करेगाः—(रोती है)

(रामकुमारका प्रवेश)

राज०—(मनमें) तकदीरसे चिड़िया तो खूब हाथ लगी है। जो कई दिनसे मेरी उम्मीद थी सो पूरी हुई। सत्यमेव ईश्वरने इसका एक एक अंग अद्वितीय बनाया है। अब तो वह मेरे आधीन है। मैं चाहे सो कर सकता हूं। परन्तु अब उससे तुरन्त मिलना चाहिये। यद्यपि उसने कल तो मेरा कहना न स्वीकार किया परन्तु आज देखता हूं कि वह मेरा कहना कैसे नहीं मानती ? यदि समझौतेसे न मानेगी तो आज अवश्य बरजोरी करूंगा (आगे बढ़कर) (मनोरमासे) हे सुन्दरी, क्या तू अब भी मेरा कहना नहीं मानती ? (मनोरमाको चुप देखकर) देख सुन्दरी ! मेरा कहना मान ले। इसीमें तेरी भलाई है, नहीं तो व्यर्थ कष्ट उठाना होगा। (मनोरमाका हाथ पकड़ता है)

मनो० —(दूर जाकर) रे नीच, पाखण्डी, अधमपापी, तुझे पराई स्त्रीके साथ ऐसा भाषण करते लज्जा नहीं आती ? तेरी जिह्वाके टूक-टूक क्यों नहीं हो जाते ? रे दुष्ट, क्या तू अपने बल का गर्वकर मुझको डराना चाहता है ?

राज०—हे मृगनयनी ! सुन्दरी ! तू मेरा कहना मान ले। क्यों वृथा रार बढ़ाती है ? अन्तमें मेरा कहना तुझे करना ही होगा।

मनो०—रे खल, तू क्यों वृथा कल्पना करता है ? (स्वगत) हे वसुधे, तू क्यों ऐसे पापी पुरुषोंका भार सहन करती है ? (प्रगट) रे मूर्ख, क्या तू परमेश्वरसे भी नहीं डरता ? तू यहांसे चला जा इसीमें तेरी भलाई है।

राज०—(स्वगत) यह मेरे वश होकर भी मेरे साथ ऐसा वर्ताव कर रही है, परन्तु जहांतक हो सके मीठे शब्दों से ही काम लेना चाहिये। (प्रगट) हे सुन्दरी, यह तेरा वृथा हठ है। तू मेरे अत्याचारके अस्त्रके आगे कदापि अपनी रक्षा नहीं कर सकेगी। (मनोरमाके समीप जाता है)

मनो०—(दूर हट कर) रे अधम, क्या तू मुझ अबलापर अत्याचार किया चाहता है ?

राज०—(हाथ फैलाकर) सुन्दरी, तुम्हारी विरहाग्निसे मेरे रोम रोम दग्ध हो रहे हैं। तुम्हारा अधरामृत पान करनेको यह चातक अत्युत्सुक हो रहा है। प्रिये, (आलिंगन करना चाहता है)

मनो०—(गालपर चपत लगाकर) रे दुष्ट, तू क्यों वृथा मुझको सताता है ? अरे खल, तू क्यों धर्मविमुख हो ऐसे आचरण

करता है ? क्या तू अवलाओंपर बलात्कार कर अपना बल दिखाना चाहता है। तमाचा मारती है।

राज०—(कपोलपर हाथ लगाकर) सुन्दरी तुम्हारे हाथमें तो नहीं लग गया ?

मनो०—रे पापी; जो तेरी इच्छा हो सो तू कर। मेरी रक्षा तो परमेश्वरके हाथमें है।

राज०—(म्यानसे तलवार निकालकर) हे गर्विष्टे, क्या तू इस शस्त्रकी तीव्र धारसे नहीं डरती ?

मनो०—रे नीच ! मैं जितनी तेरी जिह्वाकी तीक्ष्ण धारसे डरती हूं उतनी तेरे इस शस्त्रकी धारसे नहीं डरती। तू अभी मुझे मारकर मेरे दुःखोंका अन्त यहां ही कर दे तो मैं प्रसन्न हूं।

राज०—(तलवारको नीचे रख कर प्यारसे) सुन्दरी, देख तू अब भी मेरा कहना मान ले।

मनो०—रे दुर्जन, तू मुझे मार अब देरी मत कर। मुझे अपने मरनेका भय नहीं।

राज०—हे सुन्दरी, यदि तू नहीं मानती तो (तलवार उठाकर) ले अब तू अपने भगवानका ध्यान कर।

मनो०—(स्वगत) हे प्रभो, दीनानाथ, करुणासागर, आपने मेरा न्याय यहां तो नहीं किया; परन्तु अब मैं आपके चरणारविंद में आती हूं वहां तो मेरा न्याय अवश्य कीजिये। प्राणनाथ, यदि मैं सत्यमेव पतिव्रता हूं; यदि मैं शीलके लिये अपने प्राण देती हूं और यदि सत्यमेव अपने शीलधर्मका पालन किया हो तो स्वर्गमें

भी मैं आपके दर्शन पाऊं और भव भवमें मुझे आपके समान पति मिले। हे करुणासिन्धु, यही मेरी अन्तिम प्रार्थना है। हा प्राणनाथ, प्रीतमप्यारे, इस दासीकी सुधि अवश्य लेना (ठण्डी सांस लेकर शिर झुकाये णमोकार मन्त्र जपती है) (प्रगट) हे राजकुमार, अब तू तुरन्त मुझे मारकर अपने मनको शान्त कर।

राज०—हे सुन्दरी, अब भी तू मेरा कहना मान ले।

मनो०—रे राजकुमार ! तू अन्त समय ऐसे वचन बोलकर मेरे चरित्रको कलंकित न कर। अब तू मुझको मारकर तुरन्त अपनी मनोकामना पूर्ण कर।

राज०—(तलवार उठाकर) ले कुलटा यदि तू नहीं मानती तो मेरे अपमानका बदला तुझे देता हूं। जबतक तू इस संसारमें रहेगी तबतक मेरे मनको शान्ति नहीं होगी। (तलवार उठाकर मारना और एक वीर पुरुषका पीछेसे आकर उसकी तलवार पकड़ लेना)

वीर०—(राजकुमारसे) अरे पापी, दुष्टअधम, नीच कुमार, स्त्री-हत्या करने तुझे लज्जा नहीं आती ? क्या अबलाओपर बलात्कार करनेको तू बलवान् बना है ? रे नीच क्या तू अपनी मृत्यु से भी नहीं डरता ?

राजा०—(क्रोधसे लाल नेत्र कर) रे मूर्ख, तू कौन है जो बिना मेरी आज्ञा मेरे भवनमें आकर बड़-बड़ कर रहा है ? बता तेरा क्या नाम है ?

वीर०—रे, पापी, राजकुमार, मैं इस सुन्दरीका नौकर हूं और मेरा नाम युधिष्ठिर है। इसकी रक्षाके हेतु यहां पर आया हूं।

यदि तू अपनी भलाई चाहता हो तो इस शस्त्रको यहांसे लेकर भागजा नहीं तो अभी तुझे इसका शिकार बनाऊंगा !

राजा०—"आंखोंके अन्धे नाम नयनसुख" रे मूर्ख, बादलसे बिजली टूट कर फिर वापिस नहीं लौटती ।

वीर०—तो लाचार उसे भूमिमें उतारना होगा ।

राज०—तू अब यहांसे चला जा ।

वीर०—अपनी आंखें क्यों नहीं बन्दकर लेता ।

राज०—रे ढीठ, क्या तू सोते हुए गजेंद्रके मुखमें निःशंक प्रवेश करते नहीं डरता ?

वीर०—चींटी गजके मुखमें प्रवेश कर उसीका काल बनती है !

(राजकुयारका वार करना और वीरका राजकुमारको गिराना)

वीर०—क्यों रे, पापी, क्या तुझे अब अपने कर्मोंका बदला दूं ? क्या तुझे अब यमपुरको पहुंचा दूं ? बोल अब क्या कहता है ? क्यों रे अधम, अब बोलता नहीं ?

राज०—हे भाई, तुमने तो अपना नाम सत्य कर दिखाया, परन्तु मुझे अब प्राणदान दो । मैं अब तुम्हारे अधीन हूं । दुहाई है, मैं अब ऐसा कार्य कदापि नहीं करूंगा ।

वीर०—अब तुम्हारी रक्षा उस सुन्दरीके सिवाय इस संसारमें दूसरा कोई नहीं कर सकता ।

राज०—भाई तुम्हारा कहना हमें सर्वोपरि मान्य है । चलो, अब मैं उस सुन्दरीकी शरणमें चलकर क्षमा मांगता हूं ।

वीर०—बहुत अच्छा चलो, अब सुन्दरीको बहन कहके क्षमा मांगो।

राज०—(स्वयं) बहन कहनेसे कुछ हो थोड़े जायगी। अब तो जिस तरह हो प्राण बचाना ही चाहिए। (दोनों मनोरमाके पास आते हैं।) (प्रगट) हे बहन, मुझसे बड़ा अपराध हुआ। मैं अब तुम्हारी शरण हूं। मेरी रक्षाकर अब मुझे प्राणदान दो। अबसे मैं ऐसा काम कदापि नहीं करूंगा। "शरणको मरण नहीं" इस लोकोक्तिके अनुसार अब मेरी रक्षा करो।

वीर—हे पतिव्रते, सत्यमेव तुम पतिव्रता स्त्री हो। तुम-सी सुशीला स्त्री संसारमें दूसरी नहीं। तुम्हारे शीलके रक्षार्थ ही मैं यहां पर आया हूं अब इस राजकुमारके प्राण तुम्हारे अधीन है। यदि तुम आज्ञा दो तो इसे छोड़ दूं नहीं तो अभी इसे यमपुरको पहुंचाये देता हूं।

मनो०—हे भाई, मैं दयामयी अहिंसा धर्मको पालने वाली हूं। शरणागत क्या वरन शत्रु पर भी दया करना मेरा धर्म है। सो हे भाई, इसपर दया करना ही उचित है। यद्यपि इसने महान पातक किये हैं, परन्तु इनका बदला इसको अगले जन्ममें मिलेगा।

वीर०—(राजकुमारसे) हे राजकुमार, तुम्हें सुन्दरीके कहने से छोड़ता हूं। अब तुम इसको बहन समान मानकर अपने पास रक्खो और आजसे कदापि ऐसा कुकर्म मत करो।

मनो०—हे भाई, मैं अब यहां पर रहना नहीं चाहती क्यों पानी गरम हो तो भी आगसे दूर रहना चाहिये और विषधरको पय पिलानेसे उसका विष ही बनता है।

वीर०—(राजकुमारसे) हे राजकुमार, तुम जहांसे इस सुन्दरी को लाये वहां ही छोड़ आओ।

राज०—महाराज, आपका कहना मुझको स्वीकार है।

वीर०—अच्छा तो अब मैं जाता हूं।

मनो०—भाई, इस दासीकी एक विनती है यदि सुनो तो कहूं।

वीर०—कह सुन्दरी तेरा क्या कहना है ?

मनो०—आपने मेरी रक्षा की। कार्यसे आप कोई दयावान पुरुष मालूम पड़ते हैं। आपको तो मैंने कभी नहीं देखा। तिसपर आप अपनेको मेरा किंकर बताते हैं। आपने क्यों मेरे लिये इतना कष्ट सहा ?—कृपाकर आपका नाम इत्यादि बताकर इस दासीको कृतार्थ कीजिये।

वीर०—सुन्दरी मैं प्रथम स्वर्गवासी देवता हूं और महाराजा इंद्रका किंकर हूं। तुम्हारे शील धर्मकी प्रशंसा इंद्रलोक तक हो रही है। तुम्हारी रक्षाके लिये अमरेशने मुझे यहां भेजा है। हर्ष की बात है कि मै योग्य समय पर यहां पहुंच गया।

मनो०—कृपाकर यह भी बताइये कि कब मेरे दुःखोंका अन्त होगा

वीर०—हे सुन्दरी, तू धैर्य धर। अब तेरे दुःखोंका अन्त तुरन्त आवेगा। तेरे स्वामी स्वयं तुझे आकर मिलेंगे। तुझ पर कैसी आपत्ति क्यों न आवे परन्तु शीलको कदापि त्याग न करना।

"सतिया सत मत छांड़िये, सत छांड़े पत जाय।
सतकी बांधी सम्पती, फेर मिलेगी आय॥

(इति चतुर्थ गर्भांक समाप्त)

(पंचम गर्भांक)

(स्थान—जंगल)

मनो०—(आप ही आप) हे प्रभो, तुम सत्यमेव अनाथोंके नाथ हो। तुमने अपना नाम दीनानाथ सत्य कर दिखाया, तुमने ही मेरी लाज रखो नहीं तो मेरा शील भंग होनेमें कुछ भी संशय नहीं था। अ हा हा, देखो शीलके कारण मेरी इंद्रलोकमें प्रशंसा हुई नहीं तो मैं इस योग्य कहां थी। शील ही की रक्षार्थ इन्द्रलोक वासी देवताने मनुष्यका वेप धारणकर मध्य लोकमें प्रवेश किया, शील ही संसारमें सार है, शील ही स्त्रियोंका भूपण है। हाय, मेरे प्राणनाथ इस समय कहां होंगे। क्या मेरे दुःखकी वार्ता उनके कर्णगोचर हुई होगी ? हाय ! इससे तो अच्छा होता जो मैं जन्मते ही मर जाती अथवा कामी कुमारके ही हाथसे मेरे जीवनका अन्त हो गया होता। हा शोक, माता पिताने भी मेरा न्याय नहीं किया। सास ससुरने भी कुछ विचार किया। अब मैं दीन अबला इस समय कहां जाऊं। (रुदन करती है।) रे मन, क्यों तू वृथा क्षोभ करता है। कर्मका लिखा तो मिटता ही नहीं। फिर शोक करनेसे क्या प्रयोजन।

मनुष्य—(स्वयं इस भयानकवन में मनुष्य का चिन्ह तक नहीं दिखाई देता। वृक्षों का ऐसा समूह है कि सूर्य का प्रकाश तक भी नहीं आने पाता। सिंह, व्याघ्र, वराहादि क्रूर प्राणी जहां तहां विच- रण करते हुए दिखाई देते हैं जिन को देख पक्षियों के कोलाहल के

मारे कानोंमें आवाज़ तक नहीं सुनाई देती। सारा वन हिंसक प्राणियों से भरा हुआ परन्तु अहाहा! इस भयानक जंगल में कोयल की कूक कहांसे सुनाई देती है? अरे! जिसको मैं कोयल की कूक समझता था वह तो किसी मधुरालापी दीन अवला की रोने की आवाज़ निकली। बड़े आश्चर्य की बात है यह सुकुमारी अवला इस घोर वन में कैसे आई! अवश्य इसपर कोई घोर आपत्ति आई है। परन्तु पास जा कर इससे अवश्य पूछना चाहिए। हे सुन्दरी! तुम कौन हो और इस सघन वन में कैसे आई? तुम्हारे रोनेका क्या कारण? तुमपर कौन सी विपत्ति आई है सो सब मुझसे कहो। मैं तुम्हारा दुःख दूर करने का प्रयत्न करूंगा।

मनो०—(सचेत होकर) हे भाई! तुम मेरे दुःख का कारण मत पूछो। मेरा दुःख तुमसे दूर नहीं हो सक्ता।

मनुष्य—हे सुन्दरी! तू मुझे पुत्री समान है। तू सत्य सत्य कह तुझपर कौन सी विपत्ती पड़ी है। मैं अवश्य तेरा दुःख दूर करूंगा।

मनो०—हे पिता! मालवदेश में उज्जैन नामकी एक नगरी है। वहां के सेठ महिदत्त की मैं पुत्री हूं और मनोरमा मेरा नाम है। मेरा विवाह कोशल देश में विजन्ती नाम नगरी में महिपाल सेठ के पुत्र सुखानन्द कुमार के साथ हुआ है। हे पिता! कुछ दिन तो मैंने अपने पति के साथ आनन्द से व्यतीत किए, परन्तु जब मेरे पति व्यापारके लिये विदेश गए तो मेरे ससुरने वृथा मुझपर एक कुल्टा स्त्रीके कहने से व्यभिचार का कलंक लगा मुझे घरसे

निकाल दी। वहां से मैं अपने पिताके घर गई, परन्तु उन्होंने भी मुझे आश्रय नहीं दिया। पिताजी ! मैं निर्दोष हूं। अब मैं यही चाहती हूं कि या तो प्राणनाथ के दर्शन हों या मेरी मृत्यु आ जावे ताकि मैं सब दुःखों से छूट जाऊं।

मनुष्य—हे पुत्री ! मनोरमा ! मैंने तेरी सब कथा सुनी। अब तू वृथा शोक मत कर। मेरे भी कोई सन्तान नहीं है। अब तू मेरे साथ मेरे घरको चल। मैं तेरा पुत्रीवत् पालन करूंगा। परमेश्वर की कृपा से तेरे स्वामी तुरन्त तुझे आ मिलेंगे अब तू वृथा शोक न कर।

मनो०—हे पिता ! यदि आपने इतनी कृपा दिखाई है तो यह भी बताइये कि आप कौन है और आपका नाम क्या है ?

मनुष्य—हे पुत्री ! काशीदेश में इसी नाम की एक अति सुन्दर रमणीय नगरी है। वहां का मैं रहने वाला हूं और मेरा नाम धन-दत्त है। सिवाय मेरी स्त्री के और मेरा कोई नहीं है। मैं भी तेरेही समान वन २ में परिश्रम करता रहता हूं। दैव योगसे तुझसे मिलाप हो गया। अब से तू मेरी धर्मपुत्री हुई। चल मेरे साथ चल।

मनो०—हे पिता ! यदि आपकी ऐसी ही कृपा है तो मैं आपके साथ चलती हूं। आप भी आजसे मेरे धर्मपिता हुए।

इति पंचम गर्भांक समाप्त।

[इति द्वितीय अङ्क समाप्त]

तृतीय अंक।

(प्रथम गर्भांक)

[स्थान—रानी मदनमंजरी का शयनागार]

[रानी मदनमंजरी बैठी है और चतुरकला खड़ी है]

चतुर०—सखी ! तुमको क्या हो गया ? कहो तो सही।

मदन०—अरी चतुरकला ! तू मुझ से कुछ न पूछ। अब मेरा चित्त व्याकुल हो रहा है और मुख से कुछ बोला नहीं जाता।

चतुर०—राजमहिषी ! तुम्हारी यह दुर्दशा देख मेरा चित्त भी व्याकुल हो गया है। तुम अपने दुःख का कारण मुझ से कहो। अब तुम उठो हाथ मुंह धोओ, शृङ्गार करो और पुष्पवाटिका में चलकर दिल बहलाओ।।

मदन०—अरी प्यारी ! तू यह क्या कहती है ? कैसी पुष्पवाटिका और कैसा शृङ्गार ? यहां तो मेरा शृङ्गार ही शत्रु सा जान पड़ता है। सारे आभूषण मेरे शत्रु बनकर मुझपर वार कर रहे हैं। पुष्पवाटिका के फूल तो मेरे लिए शूल हो गए हैं। प्यारी, अब मुझे अपने शरीर का भी भरोसा नहीं।

चतुर०—सुन्दरी ! अब मैं तुम्हारे दुःख का कारण जान गई। अवश्यमेव किसी पुरुष के नेत्रबाणों ने तुम्हें घायल किया है।

मदन—प्यारी, तूने कैसे जाना।

चतुर—भला सखी डिबियामें कस्तूरी छिपानेसे कहीं छिपता

है। वहन, अब तुम सत्य सत्य कहो कि वह कौन सा निर्दयी पुरुष है कि जिसकी मनोहर मूर्तिने तुम्हें विह्वल कर दिया है।

मदन—चतुर कला प्यारी, आज प्रातःकाल जब मैंने शृंगार किया और अटारी पर बैठे झरोखेसे झांकने लगी तो क्या देखती हूं कि एक पुरुष सुन्दर, रूपवान, युवावस्था, गौर वर्ण, कामके समान वलवान, रेशमके वस्त्र पहने लाल दुशाला ओढ़े जा रहा है। प्यारी, उसको देखते ही मेरी तो सुध-वुध जाती रही। सखी, उसकी सोहनी सूरत और मन मोहनी मूरत मैं कहां पाऊं।

चतुर०—जरासी वस्तु के लिये इतना शाक वृथा क्यों करती हो क्यों व्याकुल होती हो ? कमल भ्रमरको वुलाने नहीं जाता।

मदन०—परन्तु विना अवलोकन किये भ्रमरको कमलका क्या ज्ञान है ? उसने मेरी ओर दृष्टि भी न की।

चतुर०—सखी, सुगन्धसे ही उसका ज्ञान हो जाता है—

मदन०—यदि ऐसा ही है तो फिर वहन, कांचनमणिको छोड़ वह क्यों चला गया ?

चतुर०—वहां पर सर्पके होनेका भय था।

मदन०—परन्तु यह भय तो उसका प्रकाश ही दूरकर देता है।

चतुर०—तो भी समीप जानेका साहस नहीं होता। हां यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो प्यारी, स्वयं प्रकाश वनकर उसका भय दूर कर सकती हूं।

मदन०—भला प्यारी, तेरे विना यह कार्य दूसरा कौन करेगा।

चतुर०—तो आप उसका नाम इत्यादि वताइये।

मदन०—प्यारी, तू नहीं जानती, वही जो सुख और आनन्द से संयुक्त है।

चतुर०—हां री सखी, तेरे कहनेका मतलब अब मैं समझ गई। अब मैं जाती हूं। और कार्य सिद्ध करके लाती हूं।

मदन०—(स्वगत) सच है "जल थल वन उपवन सघन, मनुज दनुज पशु प्रेत। सहमें प्रेमी जननको, मित्र दिखाई देत।" उसकी छवि हमारे हृदयमें ऐसी कांप रही है कि मुझे सर्वत्र ही वही वह दिखाई देता है। उसका चन्द्र मुख मदनको जलाने वाला मनोहर मूर्त्ति, रस भरे ओंठ और प्रेमभरी चितवन बेचैन किये डालती है।

सुखा०—(आश्चर्यसे) इस सुन्दरीके कहनेसे मैं यहां तक तो चला आया, परन्तु यहां तो और ही कुछ वृतान्त है। एक तो यौवनावस्था, दूसरा रूप, तापर प्रभुता और लक्ष्मी, भला इसको देख किसका मन मोहित नहीं होगा? परन्तु मुझको अपने प्रणपर दृढ़ रहना चाहिये प्रण भंग कदापि न करूंगा।

चतुर०—(मन्दहास्यपूर्वक मदनमंजरीसे) लो प्यारी, तुम्हारा शिकार मैंने तुम्हारे सन्मुख ला दिया। कमोदिनी अब चन्द्रमाके दर्शन पाकर खिला चाहती है। अब मैं जाती हूं।

मदन०—(सुखानन्दसे) हे सज्जन, मीनको भी कभी जलसे अलग रहते देखा है जो आप नई प्रथा प्रचलित करते हैं?

सुखा०—सुन्दरी, अग्निसे घृतको दूर रहना ही अच्छा है।

मदन०—हे सज्जन, विषधर सर्प के पास भी अमूल्य रत्न रहता है।

सुखा०—सो तो जिसको अपना प्राण गमाना हो वह उस रत्न की इच्छा करै।

मदद०—हे सज्जन, मक्खी अपने प्राणोंकी परवाह न कर मधुपर जाकर बैठती है।

सुखा०—वायु वर्षाजलसे प्रीति करती है, परन्तु वर्षाजल उसकी चाह नहीं करता।

मदन०—परन्तु इसमें दोष किसका है ?

सुखा०—वर्षा जल का।

[मदनमंजरी हँसकर शिर नीचा कर लेती है।]

सुखा०—पर सुन्दरी, लोह पारसकी समता नहीं कर सकता।

मदन०—हे सज्जन, पारसके संसर्गसे ही वह सुवर्णरूप धारण कर लेता है।

सुखा०—परन्तु तो भी वह पारसको छोड़ चुम्बक पत्थरसे प्रीति करता है।

मदन०—यह उसके स्वभाव का दोष है।

सुखा०—(प्रगट) सुन्दरी, बिना प्यास लगे कोई सरोवरके पास नहीं जाता। तुम क्यों वृथा परिश्रम करती हो ? पर्वत पर कूप खोदनेसे जल नहीं निकलता।

मदन०—झिरनेका तो नहीं, परन्तु स्रोतका अवश्य मिलना है ?

सुखा०—ऐसी ही झूठी आशमें पतंग दीपकसे प्रेमकर अपना प्राण गमाता है।

मदन०—तो भी प्रेम करना नहीं छोड़ता।

सुखा०—परन्तु दीपक उससे कब प्रेम करना चाहता है।

मदन०—हा, दुर्दैव !

(उदास हो सिर नीचा कर लेती है।)

सुखा०—सुन्दरी, तुम और कुछ कहो तोमैं करनेको तत्पर हूं।

मदन०—(लाजसे) मै ता केवल रूपरसकी प्यासो हूं।

सुखा०—सो तो यहां नहीं मिलेगा, क्योंकि इसमें मुझे कलंकी होनेका भय है।

मदन०—कलंकी तो चन्द्रमा भी है।

सुखा०—सज्जन जन ऐसी बातोंसे पृथक् रहना ही उत्तम समझते हैं।

मदन०—(*मनमें*) *हे नाथ, संसारमें सब वस्तुओंके स्वभाव* भिन्न हैं। चकोरकी प्रीतिको चन्द्रमा नहीं जानता और प्यासा पथिक मृगजलके पास जाते भी वह उससे दूर भागता है (प्रगट) हे सज्जन, भ्रमर कमलको छोड़ टेसूके पास नहीं जाता।

सुखा०—तेलका बातीसे प्रेम करनेमें नाश ही होता है भ्रमर कमलसे प्रीति करनेका बदला भी पा लेता है।

सुखा०-(स्वगत) अब मेरा यहां पर रहना ठीक नहीं। कुछ भी तो कह कर अब यहांसे चल दूं (प्रगट) सुन्दरी, मैं अब यहां पर अधिक समय तक नहीं रह सकता मुझे अब जानेकी आज्ञा दो। यह काम मुझसे कदापि नहीं हो सकता क्योंकि कहा है कि "काम, क्रोध, मद, लोभ, अरु, निंद्रा, मत्सर मोह। मान छांड़ि संसारमें, सुखी सकल विधि होइ॥"

मदन०—हे प्यारे, क्या मेरी आशाका वृक्ष विना फूले ही मुरझा जायेगा ? प्यारे, तुम निःशंक हो यहां रहो तुम्हें किसी प्रकारका भय नहीं।

सुखा०—सुन्दरी, काजलकी कोठड़ीमें जाने पर विना दाग लगे नहीं रहता। अतएव अब मैं जाता हूं। (सुखानन्द जाता है)

मदन०—(सुखानन्दको जाता देखकर) अरे, यह तो गया। इसका बदला अवश्य लेना चाहिये। चतुरकला, अरी चतुरकला, जरा यहां आ री !

चतुर०—(प्रवेश करके आश्चर्यसे) क्यों प्यारी, मुझे यहां बुलानेका क्या कारण ? अरी, तू तो उदासीन दिखलाई देती है। क्या वह हंस तुम्हारे हाथ नहीं आता ?

मदन०—आली, क्या कहूं ? प्रथम तो उस हंसको मैंने पास बुलानेके लिये बहुत मोतियोंका लालच दिखलाया परन्तु जब उसने चुगे पर चोंच नहीं मारी तब मैंने उसको पकड़नेके लिये हाथ फैलाये। वह भी कपटी तुरन्त उड़ गया। सखी, उसने मेरा अपमान किया। इसका बदला लूंगी।

चतुर०—प्यारी, यह क्या बड़ी बात है।

मदन०—तो सखी, तू ही बता अब क्या किया जावे।

चतुर०—प्यारी, मेरी जान तो जब महाराज यहां आवें तब उनसे आप कहें कि वह पुरुष निगोड़ा मदका मारा यहां चला आया और मेरा शील भंग किया चाहता था, परन्तु चतुरकलाको

सहायतासे मैंने अपनी रक्षा की, नहीं तो अवश्य वह आज मुझ पर अत्याचार करता।

मदन०—प्यारी, जैसा तू कहती है वैसा ही मैं करूंगी और उसको दण्ड दिलाऊंगी। तू जा, अब मैं क्रोधित होकर सोती हूं।

(राजा समरविजयसिंहका प्रवेश)

समर०—(आश्चर्यसे) ओहो, बड़े आश्चर्यकी बात है रानी मेरी अभ्यर्थनाके लिये नहीं आई, ये आभूषण यहां पर कैसे पड़े हैं? अवश्य आज कोई विशेष घटना यहां पर हुई है, नहीं तो प्राण प्यारी मेरा आगमन सुन कर द्वार पर नहीं आवे ऐसा कदापि नहीं हो सकता। (आगे बढ़कर) जो राजमहिषी सदैव फूलोंकी सेजपर विश्राम करती थी वही आज भूमि पर अचेत पड़ी है। नेत्रोंसे अश्रु धारा प्रवाहित हो रही है। कोई दासी भी इसके पास नहीं है। अवश्य इसको किसी प्रकारका क्रोध हुआ है। (मदनमंजरी के पास जाकर) मदनमंजरी, उठो। तुमने यह अपनी क्या बुरी दशा बनाई है? यह भूमि तुम्हारे कोमलांगको किस प्रकार सहन होती होगी? प्यारी, उठो, मुझसे कहो क्या बात है। तुम आज इतनी क्रोधित क्यों हो रही हो? प्यारी, उठो। अपने दुखका कारण मुझसे कहो हे प्यारी, आज तुमको इतना शोक क्यों हुआ है? क्या तुम्हें किसी तरहका दुःख है?

मदन०—(आंसू पोंछकर) प्राणनाथ, शीलवती स्त्रीको अपना शील भंग होनेसे जितना क्लेश होता है उतना और किसीसे नहीं हो सकता है।

समर०—(आश्चर्यसे) ऐं, यह क्या? प्यारी यह क्या कहती हो!

मदन०—क्या कहूं? मुझको कहनेमें लज्जा आती है।

समर०—यदि मुझसे ही न कहोगी तो और किससे कहोगी?

मदन०—प्राणेश्वर! आज जो मनुष्य, सुखानन्द, आपकी राज सभामें आया था और जिसको आपने सबसे अधिक सन्मान दे पास बिठलाया था, वह मेरा रूप देखकर मुझपर मोहित हो गया और निडर हो मेरे पास चला आया। प्रियतम! वह इतना निर्लज्ज हो गया कि मुझसे रूप-रसकी भिक्षा मांगने लगा। हे नाथ! प्रथम तो उसको मैंने बहुत डर दिखाया, परन्तु जब वह मुझपर अत्याचार करनेको तत्पर हुआ तो मैंने अपनी रक्षा की। प्यारे! यदि आपको मेरे कहनेका विश्वास न हो तो चतुरकलासे पूछ लीजिये और ये वस्त्रालंकार भी इसीका प्रमाण देते हैं।

समर०—प्यारी! क्या तुम्हारे कहनेका मुझको विश्वास नहीं जो मैं प्रमाण माँगूं? अब तुम क्या चाहती हो सो मुझसे कहो।

समर०—प्राणनाथ! आप ही उसे यथोचित दण्ड दीजिये।

समर०—प्यारी, मैं उस दुष्टको प्राणदण्ड देता हूं। प्रिये, आओ कुछ विश्राम करें।

[मदन मंजरीका हाथ पकड़ सेजपर बैठना]

मदन०—(हाथ छुड़ाकर) नहीं, नहीं, प्राणनाथ, प्रथम आप अपना वचन पूरा कीजिये।

समर०—प्यारी, वह तो होगा ही।

मदन०—प्राणेश, यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है, तो मैं आपसे कब अलग हूं ?

समर०—प्यारी, तो अब चलो।

मदन०—(समर विजय सिंहके दोनों हाथ पकड़कर) प्राणनाथ, यह क्या ? देखो मेरा हार टूट गया।

समर०—प्यारी, ऐसे सहस्र हार ले दूंगा।

मदन०—प्राणनाथ।

मदन०—प्रिये।

[दोनों एक साथ जाते हैं और जवनिका गिरती है]

(इति प्रथम गर्भाङ्क समाप्त)

दूसरा दृश्य

(स्थान—सुखानन्दका निवास स्थान)

(सुखानन्द और रिपुमदन सिंह बैठे हैं)

सुखा०—(निराश होकर) मित्र, मुझे अब अपने प्राणोंकी भी आशा नहीं।

रिपु०—सुखानन्द, तुम क्यों वृथा इतने व्याकुल होते हो ? धर्म की जड़ पातालमें होती है।

सुखा०—रिपुदमन सिंहजी, यह तो सत्य है, पर क्रोध महाबुरा होता है। महाराज समरविजय सिंहजीने मुझे बुलाया है।

क्रोधके आवेशमें मनुष्यको कृत्याकृत्यका विचार नहीं रहता।

रिपु०—किन्तु मन्त्री बुधसेनजी ऐसा अत्याचार कदापि नहीं होने देंगे।

सुखा०—मित्र, महाराज मन्त्रीका एक भी कहना न मानेंगे। उस कुलटा मदनमंजरीने अवश्य उन्हें बहका दिया है।

रिपु०—मित्र, बड़े शोककी बात है कि महाराज इतने चतुर हो कर उस स्त्रीके कहनेमें आ गये।

सुखा०—मित्र, महाराजने अवश्य उसके कथनपर विश्वास कर लिया होगा। महाराज अवश्य कोई असहनीय दण्ड देंगे।

रिपु०—सुखानन्दजी, तुम शोक क्यों करते हो? कर्मका लिखा तो भुगतना ही होगा, फिर वृथा चिन्ता करनेसे क्या प्रयोजन?

सुखा०—मित्र मुझको अपनी मृत्युका कुछ भी भय नहीं, परन्तु मैं झूठा कलंकी बन दण्डित किया जाऊंगा। माता पिता और प्राण-प्यारी यदि यह समाचार सुनेगी तो क्या कहेगी? मित्र, इसीका मुझको शोक है और कुछ नहीं।

रिपु०—मित्र, प्रथम तो आप कलंकी हैं ही नहीं और दूसरे मुझे विश्वास है कि महाराज ऐसा अन्याय कदापि नहीं करेंगे।

सुखा०—मित्र, मैं तो कलंकी नहीं हूं, परन्तु संसार ऐसा कब समझता है? मनुष्य कलंकी हो या नहीं, परन्तु न्यायालयमें उन-पर एक बार अपराध लगनेसे वह सदैव कलंकी समझा जाता है, चाहे अपराध सत्य हो या असत्य। और सेनापतिके कहनेसे विदित हुआ कि महाराज मुझे प्राणदण्ड देनेका विचार कर चुके हैं।

रिपु०—सुखानन्दजी, आप चिंता न करें। मैंने उसका भी उपाय कर लिया है।

सुखा०—इसका तुमने क्या उपाय कर लिया है ?

रिपु०—मित्र, यदि महाराज ऐसा अन्याय करनेपर तत्पर होंगे तो मैं उनसे युद्ध करूंगा। मेरे पास इस समय सात सहस्र शूर ऐसे हैं कि उनमेंसे एकके समान भी योधा महाराजकी सारी सेनामें नहीं निकलेगा।

सुखा०—मित्र, एक जीवकी रक्षाके लिये अनेक जीवोंके प्राण गमाना मैं नीति विरुद्ध समझता हूं, अतएव तुम कदापि यह इच्छा मत करो।

रिपु०—मित्र, यह तो ठीक, परन्तु अन्यायके प्रतिकारार्थ प्राण गमाना अनुचित नहीं होता।

सुखा०—भाई, तुम्हारा कहना सत्य है; परन्तु तुम क्यों वृथा मेरे लिये प्राण गमाते हो ?

रिपु०—आपके प्राण जांय और मैं सुखसे घर सोता रहूं ? मित्र, मैंने क्षत्रिय-कुलमें जन्म लिया है। मित्रके लिये प्राण गमाना मेरा धर्म है। (स्वगत)

सुखा०—मित्र, ऐसा हठ मत करो। मुझे अपने प्रारब्धका लिखा भोगने दो। तुम मेरे लिये वृथा परिश्रम कर प्राण न गमाओ।

रिपु०—मित्र, यदि राजा अन्यायी हो तो अवश्य उससे युद्ध करना चाहिये। और आप मेरे प्राणोंकी चिन्ता न करें। मैं शत्रु-को सेनाको ऐसे काटूंगा कि जैसे बिजली बादलोंको। मैं अवश्य

उस अन्यायीसे युद्ध कर आपके प्राण बचाऊंगा। मित्र मैं वह पुरुष नहीं हूं कि जो मित्रसे मीठी २ बातें कर भीतर कपट रखे और मित्रको धोखा दे।

सुखा०—मित्र, इस संसारमें ऐसे कई मनुष्य हैं जो प्रथम तो वचन दे देते हैं किन्तु समय पड़नेपर कपट कर जाते हैं।

रिपु०—मित्र, मैं ऐसा पुरुष नहीं हूं जो मित्र मुझपर विश्वास करे और मैं मित्रसे कपट करूं।

सुखा०—मित्र तुम्हारा कहना ठीक है; परन्तु मेरे लिये वृथा आपके साथियोंके प्राण नाश होंगे।

रिपु०—मित्र, यह क्या कहते हो ? वे मेरे सेवक हैं। स्वामीके लिये प्राण गमाना सेवकका धर्म है। उन्होंने मेरा नमक खाया है समय आनेपर सबकी जांच हो जाती है। अब विलम्ब नहीं करना चाहिये। तुरन्त आप राजसभाको चलिये। मैं अपने साथ अपने वीरोंको लेकर आता हूं।

सुखा०—मित्र, आपका कहना मैं कब अस्वीकार करता हूं ? परन्तु बुद्धिमानोंको सोच विचार कर आगे पैर रखना चाहिये।

रिपु०—मित्र, मैंने सब सोच लिया। आप चिन्ता न करें। यदि राजा साहब समझानेपर भी न मानेंगे तो मैं अवश्य उनसे युद्ध करूंगा और रक्तकी नदी बहाऊंगा।

मित्र—अब विलम्ब मत करो तुरन्त चलो अब मेरा पराक्रम दिखानेका समय आ गया है।

सुखा०—मित्र, मुझे आशा नहीं कि आपके पराक्रमका प्रयोजन

हो; क्योंकि अन्तमें धर्म हीकी जय होती है। महाराज अवश्य दूध का दूध और पानीका पानी कर देंगे, परन्तु अब चलना चाहिये।

पटाक्षेप।

(इति द्वितीय गर्भांक समाप्त)

तीसरा दृश्य

—:+:—

[स्थान—राजाकी कचहरी]

[राजा और मन्त्री बैठे हैं)

मंत्री०—(हाथ जोड़कर) राजन्, आप इस कार्यमें शीघ्रता न कीजिये क्योंकि किसी भी कार्यमें शीघ्रता करनेसे फल अच्छा नहीं होता।

राजा०—मंत्री, तुम्हारा कहना मुझको मान्य है; परन्तु उस दुष्टको प्राणदण्ड अवश्य देना चाहिये।

मंत्री०—महाराज, अपराधीको दण्ड तो अवश्य देना चाहिये, परन्तु प्रथम न्याय कर उसका अपराध सिद्ध कर लेना चाहिये, क्योंकि कभी २ ऐसा भी होता है कि भूलसे निरपराधी दण्डित हो जाते हैं।

राजा०—मंत्री, क्या तुम्हें रानी मदनमंजरीके कथनपर विश्वास नहीं आता?

मंत्री०—राजन्, बिना साक्षी किसीके भी कथनपर विश्वास नहीं करना चाहिये।

राजा०—मंत्री, मुझे निश्चय है कि अवश्य उस दुष्टने ऐसा घृणित कार्य किया होगा।

मंत्री०—(विनयपूर्वक) राजन्, जरा धीरज धरो। सेनापति अभी उसको लेकर आते ही होंगे। आपके सम्मुख ही जो कुछ होगा सो आ जायगा। फिर आप इतने अधीर क्यों हो रहे हैं? ज़रा और ठहरिये।

राजा०—मंत्री, उस दुष्टका मैं मुखावलोकन तक नहीं किया चाहता। मेरी इच्छा है कि मेरे परोक्ष होमें उसको फांसी दे दी जाय तुम सेनापतिको आज्ञा दे दो कि वे उसे फांसी दे दें।

मंत्री०---राजन्, आप मेरी प्रार्थनाको ओर ध्यान दे ज़रा चित्त को शांत कीजिये। हे राजन्, ऐसा कार्य न करें जिससे आपकी संसारमें अपकीर्ति हो।

सुखानन्द और रिपुदमनसिंह के साथ सेनापतिका राजसभामें प्रवेश

राजा०---(क्रोधसे) क्योंरे, सुखानंद, क्या तुझे अपने बल, लक्ष्मी और विद्याका गर्व हुआ है?

मंत्री०-राजन्, आप इतना क्रोध क्यों करते हैं? यदि आप चाहें तो मेरे प्राण ले सकते हैं। इससे अधिक और तो कुछ यहां आप नहीं कर सकते? परन्तु महाराज, आपसे बुद्धिमानोंको बिना विचारे ऐसा नहीं करना चाहिये।

मंत्री०—सुखानन्द कुमार! आप पर व्यभिचारका दोष लगा है

सुखा०—महाराज, वह मैं सब जानता हूं।

मंत्री०—तुम्हारा क्या कहना है ?

सुखा०—मन्त्रीजी, मेरा तो यही कहना है कि मैं निर्दोपी हूं।

मंत्री०—तुमपर ही कैसे विश्वास कर लिया जाय ?

सुखा०—यदि आप न करें तो आपकी इच्छा।

मंत्री०—तो फिर क्या तुमपर झूठा दोप लगाया गया ?

सुखा०—महाराज, मैं सब वृतांत कहता हूं। आप सुनिये। जब मैं कल दरवारसे घर गया तो रानी मदनमंजरीकी सखी चतुरकला मेरे पास आई और कहने लगी कि तुमको राजमहिपीने बुलाया है। महाराज, जब मैं रानी साहिवाके पास गया तो उन्होंने अपनी कुइच्छा प्रकट की जिसे कहनेमें मुझको लज्जा आती है। राजन्, जब मैंने उनका कहना अस्वीकार किया और मैं चला आया तब उन्होंने यह छल रचा है। महाराज, यही कुल हाल है।

राजा०—(सेवकसे) सेवक ! जा चतुरकलाको बुला ला।

(चतुरकलासे) क्यों री चतुरकला, तू कल सुखानन्दको बुलाने गई थी ? यदि अपने प्राण तुझे प्रिय हों तो सत्य सत्य कह, नहीं तो अभी फांसी दी जायगी।

चतुर०—हां महाराज।

मंत्री०—कलके विषयमें दोप किसका है ? सत्य सत्य कह।

चतुर०---महा महा ममम......(बोल नहीं जाता)

मंत्री०---क्यों री, बोलती नहीं।

चतुर०---महाराज, रानी मदनमंजरीका।

राजा०---(क्रोधसे नेत्र लालकर, सेनापतिसे) सेनापति, उस दुष्ट व्यभिचारिणी कलंकिनी कुलटा मदनमंजरीको मार कर अभी मेरा हृदय शांत करो।

सुखा०---महाराज, इतने अधीर न हूजिये। स्त्रियोंका वध करना नीतिसे मना है। स्त्री कैसा भी पाप क्यों न करे उसपर कदापि शस्त्र न उठाना चाहिये।

राजा०---तो क्या इस अपराधके लिये मैं उसे दण्ड न दूं।

सुखा०---राजन्, दंड तो अवश्य देना चाहिये; परन्तु मेरी समझमें निर्वासनका दण्ड ही उचित होगा।

राजा---सेनापति ! तुम अभी उस दुराचारिणी को मेरे राज्य की सीमा के बाहर कर आओ। (सुखानन्द से) मेरी इच्छा है कि आप मेरी पुत्री का पाणिग्रहण करें।

सुखा०---राजन् ! आपका कहना मुझको सर्वोपरि मान्य है, परन्तु मैं जो अपने से छोटी हो उसको पुत्री के समान मानता हूं, उसे स्वीकार नहीं कर सकता।

राजा---(मंत्री से) मंत्री ! तुम सुखानन्द को यथायोग्य पारितोषिक देकर इनका राज्य में सन्मान बढ़ाओ।

सुखा०---महाराज ! आपकी कृपा से मुझे सब कुछ अनुकूल है। अब मेरी यही इच्छा है कि मैं स्वदेश को लौट जाऊं और माता पिता के दर्शन करूं।

राजा---मंत्री ! तुम इनको आदर सत्कार सहित अपने देशको विदा कर दो मार्गका प्रबन्ध भी योग्य कर देना।

इति तृतीय गर्भांक समाप्त।

चतुर्थ दृश्य ।

—:*:—

(स्थान-जंगल)

(सुखानन्द का कुछ साथियों सहित प्रवेश)

सुखा०—(सब साथियों से) देखो भाई ! चलते चलते इस वन में तो आगये, आज यहां विश्राम कर कल प्रातःकाल ही विजती नगरी की ओर कूच करेंगे ।

सब—जैसी महाराज की इच्छा हो ।

सुखा०— अच्छा तो तुम सब लोग अब जाकर तुरन्त भोजन इत्यादि का प्रबन्ध करो । (एक पथिकका प्रवेश और सब साथियों का गमन) (पथिकसे) महाशय, आप कौन हैं और कहां जाते हैं ?

पथिक—भाई ! यहां से निकट ही विजन्ती नामक एक नगरी है । वहां का मैं रहने वाला हूं और उज्जैन जाता हूं । महाशय, आप कौन हैं ?

सुखा०—हे भाई, मैं भी इसी विजन्ती नगरीका रहनेवाला हूं । तुम महिपाल सेठसे परिचित हो ?

पथिक—महाशय, उनसे कौन परिचित नहीं है, आप उनके कौन हैं ?—

सुखा०—हे भाई मैं उन्हींका पुत्र सुखानन्द हूं । व्यवसायार्थ हन्सद्वीप को गया था । अब माता पिता के दर्शनों की इच्छा से लौट आया हूं । कहिए राजा प्रजा सब प्रसन्न तो हैं न ? और हमारे माता पिता और स्त्री भी प्रसन्न हैं ना ?

पथिक—महाशय, राजा प्रजा और तुम्हारे माता पिता तो सब प्रसन्न हैं परन्तु— (चुप हो जाता है)

सुखा०—परन्तु क्या ? महाशय, आप जो कहा चाहते हैं सब सत्य सत्य कहें।

पथिक—(नेत्रों में जल भर कर) हे भाई मुझसे कहा नहीं जाता।

सुखा०—महाशय, आप निश्चिंत हो सत्य सत्य कहें क्या बात है ?

पथिक—हे भाई, और तो सब कुशल है, परन्तु तुम्हारे माता पिताने तुम्हारी पतिव्रता स्त्रीको, जिसके कि शील की प्रशंसा सारे नगर में हो रही है एक कुलटा स्त्रीके कहने पर वृथा व्यभिचार का कलंक लगा घरसे निकाल दिया है।

सुखा०—हा ! प्राणप्यारी मनोरमा ! ! ! (मूर्छित हो गिर पड़ना)

पथिक—(हवा करते हुए) हे भाई सचेत हो। यह समय धैर्य छोड़ने का नहीं है। तुम्हारी स्त्री सत्यमेव पतिव्रता है। उन पर व्यभिचार का असत्य कलंक लगाया गया है।

सुखा०—(सचेत होकर) हे प्राणप्यारी मनोरमे, मेरे परोक्ष में तुमपर यह विपत्ति कहांसे आई ? प्रिये, तुमने प्रथमही मुझे विदेश गमन करनेसे मना किया था, परन्तु मैंने तुम्हारी एक न मानी जिसका फल अब यह हुआ है। (पथिक से) महाशय, तुम उस स्त्रीका सब वृतान्त मुझसे कहो कैसे वह घरसे निकाली गई और वह कहां गई।

पथिक--महाशय, आपके पिताने आपके सारथि मित्रसेन को आज्ञा दी कि इसको अपने पिताके घर लेजाने के वहाने घोर जंगल में छोड़ आ ताकि यह पुनः अपना काला मुंह न दिखाये।

सुखा०—हा प्यारे मित्रसेन, मैं तो प्राणप्यारी की रक्षा का भार तुम्हीं पर छोड़ आया था और तुम मेरे मित्र थे। क्या तुमने भी उसकी सुधि न ली, सत्य है, कर्मोदयसे मित्र भी शत्रु वन जाते हैं। (रुदन करता है)

पथिक—(धैर्य देकर) हे भाई, तुम शोक को त्यगकर प्रथम सव वृत्तान्त सुन लो। मित्रसेन ने तुम्हारे साथ सच्ची मित्रता दिखाई है।

सुखा०—(रुदन करता हुआ) हा प्राणप्यारी मनोरमा, तुम अकेली घोर जंगल में किस प्रकार अपना निर्वाह कर सकी होगी ? जो तुम घरमें भी अकेली रहने को डरती थी सो तुमने किस प्रकार सिंह, वाघ, वराहादि हिंसक प्राणियों से परिपूर्ण वन में निवास किया होगा ? प्राणप्यारी ! ! मनोरमा ! ! ! (लम्बी सांस ले मूर्छित हो गिर पड़ता है)

(सुखानन्द के कुछ साथियों का प्रवेश)

साथी—(सुखानन्द के पास आ उसके मुखपर जल छिड़ककर) महाराज, महाराज, यह आपको क्या हो गया ? अभी तो आपको हम अच्छी तरह से छोड़ कर गये थे। इतने ही में यह आपकी क्या दशा होगई।

सुखा०—(उठ कर) हे भाई, तुम मुझसे कुछ न पूछो।

पथिक--(साथियों से भाइयो, इनका पतिव्रता स्त्री मनोरमा को इनके पिताने व्यभिचार का वृथा कलङ्क लगा घरसे निकाल दिया है।

साथी--(सुखानन्द से) स्वामी आप वृथा शोक न करें घर चलने पर सब देखा जायगा।

सुखा०--हे भाई, घर चलना कैसा ? और विश्राम कैसा ? मैं अब उसके विना कदापि नहीं जाऊँगा।

साथी--महाराज, आप वृथा ऐसा हठ न करें। घर चलकर अपने माता पिता के नेत्रों को तृप्त कीजिए। फिर जैसा होगा वैसा देखा जायगा।

सुखा०--हे भाई, तुम घर जाने का नाम मत लो। यह सब लक्ष्मी तुम घर ले जाओ और माता पिता से कह देना कि इसे सम्हालो और भोग विलास करो। हे भाई, मैं तो अब घर कदापि नहीं जाऊंगा। अब तो योगी हो वन वनमें उसको ढूंढ़ता फिरूंगा और जब तक वह प्राणप्यारी मनोरमा नहीं मिलेगी तब तक यों ही भटकूंगा।

पथिक--(सुखानन्द से) महाशय, आप इस हठ को छोड़ें। आपको स्त्री का मिलना महान् कठिन ही नहीं वरन असम्भव है। क्योंकि प्रथम तो वह पतिव्रता, तत्पश्चात् दीन अबला सुकुमारी है। मित्रसेन उसे निर्जन वनमें छोड़ आया था। क्या आश्चर्य कोई हिंसक प्राणी भक्षण कर गया हो।

सुखा०—हे भाई, मैं कैसे जाकर अपना मुख [illegible]

दिखाऊं ? मैंने तो अब निश्चय कर लिया है कि या तो उस प्राण-प्यारी की खोज लगाऊंगा या योगी हो वन वन भटकता फिरूंगा। (स्वगत) हे भाई, अब तुम विजन्ती नगरी को कूच करो। माता पितासे मेरा प्रणाम कह देना और मित्रसेन व इतर इष्टमित्रोंसे सब हाल कह देना। (पथिक से) महाशय, आप जाइये। आपका मैंने व्यर्थ समय व्यतीत किया अतएव आपसे क्षमा मांगता हूं।

(सबका जाना, सुखानन्द योगीका वेश बनाकर मनोरमा मनोरमा कहते चल देते हैं)

(इति चतुर्थ गर्भांक समाप्त)

पांचवां दृश्य

सघन-वन

(सुखानन्द का योगीके वेशमें प्रवेश)

सुखा०—(आपही आप) अब मुझे प्राणप्यारी से मिलने की आशा नहीं। अन्वेषण करते २ छः मास व्यतीत होगए, परन्तु कहीं पता नहीं लगता। अब संसार मुझे कारागार के समान दिखाई देता है। मनुष्य की संगति से घृणा होती है और मृत्यु प्रिय मालूम होती है। मुझ दुखिया की कोई भी सुध नहीं लेता। कोई पास भी नहीं है जिससे अपना दुःख सुनाऊं। वियोगरूपी अग्नि की ज्वाला शरीर को जलाये डालती है। परन्तु इसके बचे रहने की भी आशा नहीं है। (आकाश की तरफ सिर करके) हे चन्द्रमा, तुम सब

जगत को देखते हो। कहीं मेरी प्यारीका भी देखा हो तो बता दो। उसके चिन्ह ये हैं:--गौर वर्ण, यौवनावस्था, तुम्हारेही समान मुख, मृग कैसे नेत्र हंस कीसी ग्रीवा और केहरी के समान कटी। क्योंजी! तुम भी नहीं बोलते? क्या तुम्हें कुमुदिनी ने मुझ से वार्तालाप करने को रोक दिया है? अच्छा भाई, मत बोलो, दुखिया को देखकर सब कोई हँसते हे। हा दुर्दैव, मैंने ऐसे कौनसे अपराध किये हैं कि, पशुपक्षी भी मुझसे रूठ गए. परन्तु वृथा शोक करने से क्या प्रयोजन? यह तो सब कर्मों का फल है। चलूं. अब और आगे बढ़कर खोज करूं, कहां प्यारी का पता लग जाय।

(इति पंचम गर्भांक समाप्त)

(इति तृतीय अङ्क)

चतुर्थ अंक

प्रथम दृश्य।

(स्थान-काशीपुर में धनदत्त का निवासस्थान)

(मनोरमा एक सेजपर शयन कर रही है. और मदनलता का प्रवेश)

मदन०—हे चन्द्रानने, आज क्या कारण है जो आप इस समय तक नहीं उठी? प्यारी, उठो, उठो, प्रभात होगया।

"रजनी वियोग मिटाय के. गली कुमुद कर [illegible]
तारा मंडल साथ है, चन्द्र जात है मंद॥"

मनो०—(चकित होकर आंखें मलती हुई) क्या सचमुच ही प्रभात होगया ? (मदनलता से) अरी मदनलता, तूने मेरे आनन्द में बड़ा ही विघ्न डाला जो मुझे आकर जगा दिया। अरी मूर्ख, जो मुझे क्षण भरके लिए सुख मिला था वह भी तूने भंग कर दिया। अरी, अब वही सुख मुझको दुःख रूपी दिखाई देता है।

मदन०—हे प्यारी कैसा आनन्द और कैसा दुःख ? तू क्या कहती है, मेरी तो कुछ समझ में नहीं आता। यदि मुझसे अनजान में अपराध हो गया हो तो क्षमा करना।

मनो०—अरी मदनलता, तू मुझसे कुछ न पूछ। मेरा चित्त घबड़ाता है और मुझसे बोला नहीं जाता।

मदन०—(मनोरमा के पास बैठकर) प्यारी इतनी अधीर मत हो। सब हाल मुझसे कहो।

मनो०—अरी मदनलता, तेरा कहना सत्य है; परन्तु मैं कैसे धीरज धरूं और क्या कहूं ? कलेजा धड़ धड़ कर रहा है।

मदन०—अरी सजनी, बिना कहे मैं तेरे मन की पीर कैसे जानूं ?

मनो०—(ठंडा सांस लेकर) प्यारी, आज रात्रि को जब प्राणनाथ के वियोग में हाय हाय करते मुझे निद्रा लग गई तो क्या देखती हूं कि, प्राणनाथ योगी का वेष बनाये, जटा बढ़ाए, तन पर भस्म रमाए, कफनी पहिने, कानों में कुण्डल और हाथमें सुमरनी ले, "प्यारी मनोरमा, प्यारी मनोरमा" कहते बन बन भटक रहे हैं।

मदन०—फिर क्या हुआ ?

मनो०--प्यारी, उनकी यह दशा देख मुझे मूर्छा आगई। प्यारी, जब मुझे चेत हुआ तो अपने को प्राणनाथ की गोदमें पाया। सखी, उस समय के आनन्द का मैं क्या वर्णन करूं, मैं सारे दुःखों को एक बार ही भूल गई। प्राणनाथ भी मुझसे मीठी मीठी बातें करने लगे। सखो, मैंने चाहा कि, मैं भी प्राणनाथसे कुछ कहूं उसी समय तूने आकर मुझको जगा दिया। हे प्यारी, उस बातको स्मरण करते ही अब मुझे रोमांच होता है, और यही मेरे दुःख का कारण है।

मदन--प्यारी, तू चिंता न कर। तेरे पति ने तेरे वियोग से योगीका वेश धारण किया है, और वे तेरे लिए वनवन भटकते हैं तो वे तुझ तुरन्त आकर मिलेंगे। अब तू अधीर न हो।

मनो०--(शोक से) हे प्यारी, मैं कैसे धीरज धरूं ? मेरा तन तो यहां और मन प्राणनाथ के पास है।

मदन०--सखी, इतनी अधीर न हो। अवश्य तेरे स्वामी तुझे आकर मिलेंगे।

मनो०--अरी मदनलता, तू क्या कहती है, मैं कैसे मन समझाऊं?

राग बसन्त बहार

"मदमाती कोइलिया डार डार, मेरे अँगनामें बोलत बार बार ॥टेक॥
विरहिन के मद पे जोर जोर, तापर दैयारो पवन सोर,
मैं तलफत हूं निस भोर भोर।
मेरे दृगन बही है जल धार धार। मेरे अँगना० ॥ मदन०॥"

(मदन गाती है)

मदन०--अरी सखी, तू इतना शोक मत कर देख तेरे नेत्र लाल हो गये हैं।

विहाग।

विनय मेरी सुन सखी चतुर सुजान।
कुच-कोमल काया कुमलाई, भई पिंजर रु समान। विनय॥ टेक॥
मन्द भयो मुख चारु चन्द इव ग्रसत राहु जब आन।
नैनन नीर रहे निसिवासर, उड़न चहत अब प्रान॥विनय०॥
खान पान सब सुखहों विसारे, होय रही नादान।
पीवु पीवु तू रटत रैन दिन, रहत पियाको ध्यान। विनय०॥२॥
रैन चैन नहीं परत, कहा अब परि तोहे यह बान।
धीरज धरो सखी मेरी तू काहे बनो अनजान॥ विनय॥३॥
धीरजसे सब कार्य सिद्ध हो लेहु कही मोरो मान।
मिलि हैं पीवु शीघ्र ही तुमको सत्य कहूं यजमान॥ विनय०॥

मनो०—अरी सखी, मैं कैसे धीरज धरू ? भला वहन ? तू कैसी बातें करती है, सत्य है, जिसपर बीतती है वही जाने। दूसरा क्या जाने ? हाय, विधाताने पर भी न दिये, नहीं तो उड़कर आपके चरणारविन्दमें उपस्थित होती। (रोती है)

मदन०—अरी सखी ! तुझे क्या हो गया है ? तुझे कहांतक समझाऊं ? तू मेरी एक भी नहीं मानती।

मनो०—तेरा कहना मुझे मान्य है ,परन्तु मैं क्या करू मन नहीं मानता

द्वितीय दृश्य

स्थान—विजन्ती नगर

श्रीमती०—(विनय पूर्वक) स्वामी, अब शोक करनेसे क्या ? होनहार होके ही रहती है।

मही०—प्यारी, देख तेरे कहनेपर मैंने मनोरमाको व्यभिचार-का कलङ्क लगा घरसे निकाल दी। उसीका यह परिणाम हुआ है।

श्रीमती०—प्राणनाथ, मैं क्या करूं ? उस स्त्रीने मुझसे ऐसी मीठी मीठी बातें कीं कि मुझको विश्वास करना पड़ा।

मही०—परन्तु प्रिये, देखो अन्तमें सत्य हीकी जय होती है।

श्रीमती०—(आश्चर्यसे) क्यों प्राणनाथ, इसका फल कैसे मिल गया ? क्या और भी कोई नवीन घटना हुई है ?

मही०—प्रिये, क्या तुम्हें नहीं मालूम ? आज महाराज पद्म-सेनने मुझको बुलाया था और पूछा कि तुम्हारा पुत्र विदेशसे आया या नहीं ? प्यारी, तब मैंने मनोरमाके घरसे निकाले जाने और सुखानन्दका योगी बना उसकी खोजमें जानेका कुल वृत्तान्त सवि-स्तार कह सुनाया।

श्रीमती०—(शोकमें) हाय, यह वृत्तान्त सुन महाराजने आप से क्या कहा ? हा शोक, हमारे उज्ज्वल कुलकी यह क्या दशा हो रही है ?

मही०—प्यारी! इतना ही नहीं और सुनो। जब महाराजने सुना कि, मनोरमाके साथ राजकुमारका शुभ सम्बन्ध था, तब महा

राजकी क्रोधाग्नि दहकने लगी। आपने उसी समय राजकुमार कामसेन और उसके मित्र विदग्धसेनको बुलाया। विदग्धसेनके कहनेसे विदित हुआ कि, राजकुमार कामसेन मनोरमाको देख उसपर मोहित हो गया था, और अपनी इच्छा मनोरमाको जतानेके लिये उसने उस कुलटा स्त्रीको भेजी थी; परन्तु मनोरमाने जब उसकी बातें अस्वीकार कर दीं तब यह छल रचा गया। प्यारी, विदग्धसेनने कामसेनके नामपर मनोरमाका लिखा हुआ एक पत्र भी दिखाया। जिसमें मनोरमाने कामसेनको भाई कहकर सम्बोधन करके शीलधर्म पालनेका उपदेश दिया था।

श्रीमती०—(रुदन करके) हा मनोरमा, तुम सी पतिव्रता स्त्रीपर मैंने यह क्या अत्याचार किया ? मैंने एक कुलटा स्त्री के कथनपर विश्वासकर तुमको घरसे निकलवा दिया। हे स्वामी, मैं अब क्या करूं ? मैं ही इन सब आपत्तियोंको कारण हूं।

महो० प्रिये, महाराजने विदग्धसेनका सब कथन सुन लिया तब राजकुमारसे पूछा। प्रिये, उस दुष्टने भी अपना अपराध स्वीकार किया है। महाराजने उसी समय इन दोनों, कुलटा स्त्री और राजकुमार को प्राण दण्डकी आज्ञा दे दी परन्तु मन्त्रीके परामर्श करनेपर वह स्त्री और राजकुमार दोनों देशसे बाहर निकाले गये।

श्रीमती०—हा सुखानन्द, हा मनोरमा, तुम्हारी इस अभागिनी माताने तुमपर क्या आपत्ति ढादी ? हा पुत्र सुखानन्द, वह दिन कब होगा कि, मैं तुम्हें मनोरमाके साथ वार्तालाप करते देखकर प्रसन्न होऊंगी ? (रुदन करती है)

महो०—प्यारी, इतना शोक न करो और आगे की बात सुनो महाराजने मुझे आज्ञा दी है कि या तो अपने पुत्र सुखानन्दको लाओ, नहीं तो तुम अभी मेरी नगरीसे बाहर हो जाओ।

श्रीमती०—यह और क्या नई आपत्ति आई ? मैं तो समझती थी कि मेरे दुःखोंकी सीमा यहीं तक है; परन्तु नहीं मेरे प्रारब्धमें तो और भी दुःख सहना लिखा है।

महो०—प्यारी, धीरज धरो, अब यह समय साहस छोड़नेका नहीं है। तुम अब यहां रहो, और मुझे जानेकी आज्ञा दो। मैं प्यारे पुत्र सुखानन्दको खोजकर लाऊंगा। मनोरमाकी आशा नहीं कि, वह जीवित हो क्योंकि, मित्रसेनके कथनसे विदित हुआ है कि वह पीहर नहीं गई, परन्तु उसका भी शोध करूंगा।

श्रीमती०—हे स्वामी, मैं कैसे धीरज धरूं। प्रथम तो मुझसे बहू छूटा, फिर पुत्रसे वियोग हुआ और अब आप भी जानेका नाम लेते हैं। हा दैव, क्या संसारमें मुझसी और भी कोई दुःखिया होगी ?

महो०—प्यारी, तुम्हारा इतना शोक मुझसे नहीं देखा जाता। अब तुम रुदन न करो। मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है। अब तुम मुझे आज्ञा दो ताकि मैं प्यारे पुत्र और बहूकी खोज करने जाऊं।

श्रीमती०—स्वामी, मैं क्या करूं ?

महो०—प्यारी, देखो, रोते रोते तुम्हारे नेत्र लाल हो गये हैं; अब वृथा रुदन करनेसे क्या प्रयोजन ? अब मुझे तुम जानेकी अनुमति दो तो मैं जाऊं। नहीं तो यदि महाराज यह [illegible] करेंगे तो अवश्य मुझको दण्ड देंगे।

श्रीमती०—प्राणनाथ, आपके पीछे मेरा कौन रक्षक है ? मैं कैसे अपना जीवन व्यतीत करूँगा ? मैंने अपने हाथसे अपने पैरों पर कुठार मारा है ।

मही०—प्रिये, तुम इतना शोक न करो । खुशीसे अनुमति दो ।

श्रीमती०—प्राणनाथ, मन तो क्या, परन्तु वचनसे भी नहीं कह सकती कि, आप जाइये; परन्तु राज-आज्ञा और पुत्र शोक-से व्याकुल हो आपको भेजना ही पड़ता है । स्वामी, आप जाए, परन्तु तुरन्त लौटना ।

मही०—प्यारी, तुम निश्चय रखो कि मैं सुखानन्द और मनो-रमाको लेकर शीघ्र आऊंगा ।

(इति द्वितीय गर्भांक समाप्त)

(तृतीय गर्भांक)

(स्थान—वल्लभपुरीके बाहर का मैदान)

(एक कूए पर स्त्रियां जल भरती हैं, सुखानन्दका प्रवेश ।)

सुखा०—(स्वगत) हा परमेश्वर, अभी भी मेरे दुखोंका अन्त नहीं हुआ । चलते चलते पैरोंमें छाले पड़ गये, प्राणकंठ गत हो रहे हैं, चलनेका सामर्थ्य न रहा और बोला भी नहीं जाता । परन्तु यह दशा होनेपर भी प्राण प्यारीसे मिलनेकी आशा नहीं जाती !

एकस्त्री—वहन, देख, जहां गुलाब तहां कंटक अवश्य रहता है।

दूसरीस्त्री—सखी यह संसार ही ऐसा विचित्र है ।

पहिली स्त्री—बहन, देख, यह योगी कोई विद्वेषी पुरुष जान पड़ता है।

सुखा०—(स्वगत) अरे, ये तो मेरी ही चर्चा कर रही हैं।

दूसरी स्त्री—(पहिली से) प्यारी, जान तो ऐसा ही पड़ता है। क्योंकि वर्तमान कालमें सच्चे योगी तो विरले ही होते हैं।

पहिली स्त्री—बहन, मेरी समझमें तो अवश्य यह कोई विपत्तिका मारा है। चलकर इसको विपत्तिका कारण पूछना चाहिये।

सुखा०—(स्वगत) मैं इनको अपनी प्राणप्रियाका पता पूछने वाला था, परन्तु ये तो स्वयं ही मेरा वृतांत जानना चाहती है। अवश्य यदि इन्होंने मुझसे वार्तालाप किया तो मैं इनसे मनोरमा का हाल पूछूंगा। ये चतुर भी जान पड़ती हैं।

दूसरी स्त्री—(पहलीसे) चल री चल, अपना काम क्यों नहीं करती? तुझे उससे क्या पड़ी है?

पहिली—बहन, यह तो मैं भी जानती हूं; परन्तु इस पुरुषका हाल तो अवश्य विदित करना चाहिए।

दूसरी—जाओ, यदि नहीं माने तो पूछ पूछ।

पहिली—(सुखानन्दके पास जाकर) हे महाराज, कृपा कर मुझको बताइये कि आपका आगमन कहांसे हुआ, और आपका स्थान कहां है?

सुखा०—योगियोंका कहीं स्थान भी होता है? हमारा क्या? आज यहां और कल वहां। हमारा क्या आना और क्या जाना? परन्तु तुम्हें पूछनेसे क्या प्रयोजन?

पहिली—महाराज, आपके मुखसे ऐसा जान पड़ता है कि, आप कोई राजकुमार हैं, परन्तु विपत्तिके कारण योगीका वेश धारण कर लिया है।

सुखा०—वहिन, तुम्हारा अनुमान यथार्थमें सत्य है। यद्यपि मैं राजकुमार तो नहीं हूं परन्तु योग्यतामें राजकुमारोंसे कम नहीं हूं। प्राण प्यारी मनोरमाके वियोगमें मैंने अपनी यह दशा कर ली है। घर वार छोड़ा, इष्टमित्र छोड़े माता-पिता छोड़े और सुख सम्पति छोड़ी। इसीके वियोग में वनवन भटकता फिरता हूं।

स्त्री०—हे भाई, तुम्हारी स्त्री तुमको अवश्य मिलेगी। तुम धीरज धरो। प्राण गमाना तो उचित नहीं।

सुखा०—प्रेमीजन प्रीति-पथ पर पैर रख प्राणोंकी परवाह नहीं करते। मुझे अपनी मृत्युका भय नहीं, परन्तु मैं यही चाहता हूं कि एक वार उस सुन्दरीका मुखावलोकन कर लूं। हे वहिन, यदि तुमने उसको कहीं देखी हो तो वताओ।

स्त्री०—हे भाई, हम तुम्हारी स्त्रीको क्या जाने? परन्तु हमने एक किंवदन्ती सुनी है। वह यह कि हमारे राजाका पुत्र वड़ा पापी, निर्दयी और अन्यायी है। एक समय वह वनसे एक सुन्दरीको ले आया और उसे वहुत कष्ट दिया, परन्तु वह स्त्री अत्यन्त शीलवती थी। वह अपने धर्म पर दृढ़ रहा, और प्राण देनेको उद्यत हो गई। उसी समय इस वीर पुरुषने आकर उसकी रक्षा की, और राजकुमारका दमन किया तव वह उसको उसी वनमें छोड़ आया। फिर क्या हुआ सो मैं नहीं जानती। उस सुन्दरी

का नाम भी मनोरमा था। परन्तु मैं नहीं कह सकती कि वह तुम्हारी ही मनोरमा थी।

सुखा०—(प्रगट) हे सुन्दरी, यदि तुमने उसका आगे वृतांत सुना हो तो कहो। वह अवश्य ही मेरीही प्राण प्यारी मनोरमा थी।

स्त्री—आगे तो मैं नहीं जानती जितना मैं जानती थी कह दिया।

सुखा०—प्राण प्यारी मनोरमा, तुमने वनमें जाकर कैसे अपनी रक्षा की होगी? परन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि जिसने तुमको मृत्युके मुखसे निकाला और तुम्हारी रक्षा की उसीने तुम्हारी आगे भी रक्षा की होगी।

दूसरी स्त्री—हे योगी, तुम धीरज धरो। मैं उस स्त्रीका आगेका वृत्तांत सुनाती हूं। जब वह सुन्दरी वनमें गई तब वहां उसे काशी नगरीका एक सेठ मिला। वह उसको अपने घर ले गया है, और उसका पुत्रीवत पालन करता है। अब तुम वहां जाओ। वह तुमको वह वहां अवश्य मिलेगी।

सुखा०—(हर्षसे विह्वल होकर) हा हा देखो, मनुष्यका जीवन भी कैसा विचित्र है। कभी दुख कभी सुख। सत्य है, सुखके पीछे दुख और दुखके पीछे सुख संयोगके पीछे वियोग और वियोगके पीछे संयोग लगा रहता है। तुम्हारी कृपाका ऋण मैं नहीं चुका सकता। तुम्हारा उपकार जन्म भर नहीं भूलूंगा। अब मैं काशी नगरीकी ओर जाता हूं।

(इति तृतीय गर्भांक समाप्त)

(चतुर्थ गर्भांक)

(स्थान—काशीमें धनदत्त सेठका बगीचा)

(सुखानन्दका योगीके वेशमें आना)

सुखा०—इस काशी नगरी तक तो आया, परन्तु अब यहां प्राण प्यारीको कहां खोजूं। कुछ विश्राम करना चाहिए। (एक पेड़के नीचे जाकर बैठ जाता है।

मालिन—(सुखानन्दके सामने होकर) स्वामी, आप कौन हैं जो आपने इस उद्यानमें प्रवेश किया ? क्या आप नहीं जानते कि, यह धनदत्त सेठका उपवन है ? आज वसन्त है, अतएव उनकी पुत्री मनोरमा यहां आवेगी और अश्रुजलसे वृक्षोंका सिंचन करेगी। उसकी आज्ञा है कि कोई भी पुरुष इस पुष्पवाटिकामें न आने पावे। महाराज, यदि आप अपना भला चाहते हैं तो अभी यहांसे चले जायं, नहीं तो आपको और हमको दण्डित होना पड़ेगा।

सुखा—(प्रगट) उद्यान केवल स्त्रियोंकी क्रीड़ाके लिये नहीं बनाये जाते, किन्तु साधू, महात्मा और पथिकोंके विश्रामके लिये भी बनाये जाते हैं। और तेरी स्वामिनी हमारा क्या करेगी ? हम उसकी कुछ हानि थोड़े ही करते हैं। परन्तु मालिन, तू यह बता सकती है कि तेरी मनोरमा आज यहां आकर अश्रुजलसे वृक्षोंका सिंचन क्यों करेगी ?

मालिन—(क्रोधित होकर) चलो जी, आपको इससे क्या करना है ? आप अभी हमारे बागके बाहर हो जायं नहीं तो व्यर्थमें मुझे दण्डित होना पड़ेगा।

सुखा०—मालिन, तू क्रोध न कर। यदि तुझे जरा भी दण्ड होगा तो उसका मैं जवाबदार हूं। मैं जानता हूं कि तेरी स्वामिनी इतनी कठोर न होगी कि साधु-सन्यासियोंको बागमें न आने दे। तू कृपाकर मेरे प्रश्नका उत्तर दे।

मालिन—महाराज, हमारी स्वामिनी वियोगिनी हैं। पतिसे उनका बिछोह हो गया है। इसीसे वे सदैव दुःखी रहती हैं। मैं तो जाती हूं। मुझे फूलोंकी क्यारियोंमें जल सींचना है। यदि वे आकर क्रोधित होंगी तो उसके जवाबदार आप हैं।

(मनोरमाका मदनलता और चम्पकलताके साथ प्रवेश)

चंपकलता—(मनोरमा से) सखी, तू क्या सदैव दुःखी रहा करती है? आज वसन्त है। देख, ये कोमल कुसुम खिल खिल कर तेरे चन्द्राननकी चेष्टा कर रहे हैं। क्यों नहीं तू इनकी चेष्टा देख हंसती है?

मनो०—प्यारी, मैं कैसे धीरज धरूं? प्यारी, सारा शरीर विरहाग्निसे जल रहा है। भला सखी, फिर मैं कैसे धीरज धरूं?

सुखा—(स्वगत) धन्य है, मनोरमा, धन्य है तुम्हारे प्रेम को।

मदन०—(मनोरमासे) बहन, दुःख करनेसे क्या तुम्हारे पति मिल जायेंगे? प्रारब्धमें लिखा तो भुगतना ही होगा, फिर वृथा शोक करनेसे क्या प्रयोजन।

मनो०—सखी, यह तू क्या कहती है। मुझे तुम सब समझाती हो, परन्तु मैं अपने दुःखोद्वेगको कैसे रोकूं! प्राणनाथके वियोगकी ज्वालासे मेरा मन बेचैन होता है।

सुखा०—मनोरमा, सत्यमेव तुम सी पतिव्रता स्त्री संसारमें दूसरी नहीं होगी। प्रिये, न हम विदेश जाते और न यह आपत्ति तुमपर आती। तुम्हारे इस दुःखका कारण मैं ही हूं।

मदन०—(मनोरमा से) सखी, अब शोकको दूर कर। देख तो सही। ये कोई महात्मा बैठे हैं इनके दर्शन कर सफल कर।

मनोरमा—अरी सखी, आज समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ता है।

चम्पक०—बहन, क्या कहती हो मेरी समझमें नहीं आता।

मनो०—प्यारी मुझसे कुछ न पूछ। तू इन महात्मासे इनका वृतान्त पूछ।

चम्पक०—(सुखानन्दसे) क्यों जी, आप बड़े ढीठ पुरुष हैं जो बिना आज्ञा हमारी पुष्पवाटिकामें चले आये, क्या आपको किसीने रोका नहीं?

सुखा०—(खड़े होकर) अरी सुन्दरी, हम तो रात्रि भर विश्राम करने आये हैं हमें क्या करना है। ले यह चले।

मनो०—(हाथ जोड़कर) हे प्रभो आप क्रुद्ध न होइये। मेरी सखीका अपराध क्षमा कीजिये। हे प्रभो, मैं आपकी जीवनी सुनना चाहती हूं।

सुखा०—देखो, यदि तुम्हारी इच्छा है तो सुनो।

मेरे पिता का नाम महिपाल माता का श्रीमती विजंती नगरी का रहनेवाला मैं सुखानन्द हूं। क्या आपका नाम मनोरमा है।

प्रिये, वर्षाजल के आते ही मुरझाई हुई लतायें हरभरी हो जाती हैं, स्वाति के बूंद से ही चातक की प्यास बुझ जाती है, और जल

मिलने से ही मेंढक पुनः जीवित हो जाते हैं, फिर प्राणप्रिये, तुम अनायास क्यों उदास होगईं ? मुझे मिलते ही तुम्हारे जिस मुख ने चन्द्रमा को लजा दिया था वह एक साथ ही क्यों कुम्हला गया ? क्या प्रिये, किसी प्रकार की चिंता हुई है ?

मनो०--प्राणनाथ, जिसके वियोग में मेरी यह दशा हो रही है क्या उससे मिलने पर भी मुझे हर्ष न होगा ?

सुखा०--फिर प्रिये, तुम्हारे उदास होने का क्या कारण ?

मनो०--स्वामी, मेरी उदासी का कारण दूसरा ही है।

सुखा०--भला प्यारी, मुझसे न कहोगी तो और किस से कहोगी

मनो०—प्राणनाथ, मेरा कलङ्क ही मेरी उदासी का कारण है।

सुखा०--प्रिये, तुम्हारा कलङ्क कैसा ?

मनो०--प्राणनाथ, मैं कलङ्की होकर घरसे निकाली गई हूं।

सुखा०—परन्तु प्रिये, तुम मेरा समझमें तो कलङ्की नहीं हो।

मनो०—स्वामी, संसार तो ऐसा नहीं समझता ?

सुखा०—प्रिये, कमलनी के कीच में होने से क्या सूर्य उससे प्रीति करना छोड़ देता है ?

मनो०—प्रथम सूर्य अपनी किरणों से कीच को सुखा डालता है

सुखा०—तो प्रिये, तुम क्या चाहती हो ?

मनो०—प्राणनाथ, मैं यही चाहती हूं कि, जब तक मेरा कलङ्क दूर न हो तब तक आप मुझसे किसी प्रकार का सम्बन्ध न रक्खें।

सुखा०—प्राणप्यारी, तुम्हारा कलङ्क मैं दूर करूंगा।

मनो०—स्वामी, जिस कर्मोदय ने आपका मेरा संयोग कराया वही मेरा कलङ्क दूर करेगा।

सुखा०—प्रिये, जब तुम्हारो ऐसी ही इच्छा है तो मैं भी ऐसाही करूंगा। अब तुम तुरन्त चलकर अपने धर्मपिता का दर्शन मुझको कराओ।

मनो०—(हंसकर) प्राणनाथ, आपने अपनी यात्रा का हाल तो मुझसे कहा ही नहीं।

सुखा०—प्रिये, सब तुम्हें समय पाकर कहूंगा।

(इति चतुर्थ गर्भांक समाप्त)

(पंचम गर्भांक)

स्थान—धनदत्त सेठका गृह

धन०—(स्वगत) कर्मकी लीला भी विचित्र है। देखो, पुत्री मनोरमा शील मार्गपर चली तो उसका पति भी उससे आकर मिला। पति-संयोगसे बढ़कर और स्त्रीको क्या आनन्द होता है। पतिसे मिलते ही स्त्री सब दुःख भूल जाती है, परन्तु यह दशा मनोरमाकी नहीं है। उसे सदैव अपने कलङ्कका दुःख बना रहता है। उसने सुखानन्दसे सम्बन्ध नहीं रखा है। यद्यपि पति-संयोग-से उसको भी बड़ा हर्ष हुआ है परन्तु व्यभिचारका झूठा कलङ्क उसके तनको जलाये डालता है। बिना कलङ्क दूर हुए उसको चैन नहीं मिलती। नहीं मालूम वह किसप्रकार अपना कलङ्क दूर कराय।

चाहती है ? सुखानन्दको तो उसपर पूर्ण विश्वास है। फिर न मालूम वह क्या चाहती है। (महिपाल सेठका प्रवेश)

महि०—क्यों भाई! धनदत्त सेठका मकान कहां है ?

धन०—महाशय, धनदत्त सेठका मकान तो यही है। आप कहां से आये और क्या पूछते हैं ? आइये बैठिए, दोनों बैठ जाते हैं।

महि०—भाई मुझे धनदत्त सेठ हीसे काम है, वे कहां हैं ?

धन०—धनदत्त तो मेरा ही नाम है। कहिये क्या काम है ?

महि०—और कुछ काम नहीं है केवल पुत्रदान चाहता हूं।

धन०—हे भाई आपका कहना तो मेरी समझमें नहीं आया। स्पष्ट कहिए आप क्या चाहते हैं ?

महि०—मैं अपने पुत्रका दर्शन चाहता हूं।

धन०—आपका पुत्र कौन ?

महि०—सुखानन्द।

धन०—आहा, क्या आप ही सुखानन्द कुमारके पिता हैं ?

महि०—हां भाई, मैं ही सुखानन्दका पिता हूं। मेरा ही नाम महिपाल है। मेरे ही कारण पुत्र सुखानन्द और मनोरमाने इतने कष्ट उठाये। मैं ही उनको तीन माहसे ढूंढ रहा हूं। भाग्य-वशात् आज उनका पता लगा।

धन०—महाशय, आपने बहुत कष्ट उठाये। अब चलकर आराम कीजिए।

महि०—महाशय, प्रथम आप मुझे पुत्र और बहूके दर्शन करा दीजिए ताकि मेरा परिश्रम दूर हो जाय।

धन०—(सेवकसे) सेवक, जा, सुखानन्द कुमारसे कह दे कि आपके पिता विजन्ती नगरीसे आये हैं सो आपको बुलाते है।

महि०—धनदत्त सेठ, आपने मेरे पुत्र और वधूका पुत्रवत् पालन किया है। मैं आपकी कृपाका बदला कैसे दूंगा ?

धन०—महाशय, परोपकार कार्यके बदलेकी इच्छासे नहीं करते।

महि०—धन्य है, धनदत्त सेठ, धन्य है तुम्हारे विचारों को।

महि०—सुखानन्द तुमने मेरे कारण बहुत कष्ट सहा ?

सुखा०—पिता, आपका इसमें क्या दोष ? यह सब हमारे ही प्रारब्धका लिखा था।

महि०—बेटा, मनोरमा क्यों नहीं आई ? वह कहां है ?

धन०—(महिपालसे) महाशय मनोरमा इनसे अलग रहती है उसका वृतान्त ये क्या जानें ?

महि०—क्यों भाई इसका क्या कारण ?

धन०—उसका कहना है कि, जबतक मेरा न्याय नहीं होगा, तबतक मैं पतिसे सम्बन्ध नहीं रखूंगी।

महि०—(शोकसे) हा मनोरमा, तुम सरीखी पतिव्रता स्त्रीने मेरे कारण कितने कष्ट सहे ? सेवक, तू जाकर मनोरमाको बुला ला।

सुखा०—पिताजी, आपका यहां आगमन कैसे हुआ ?

महि०—बेटा, तुम्हारे योगी होकर चले जानेकी वार्ता जब पद-मसेन महाराजके कानतक पहुंची, तो उन्होंने मुझे आज्ञा दी कि, या तो तुम अपने पुत्रको लाओ नहीं तो मेरी नगरी छोड़कर चले जाओ।

सुखा० पिता, मेरा पता आपको कैसे लगा ?

हि०—सुखानन्द, जब ढूंढते २ तीन मास व्यतीत हो गये और तुम्हारा कहीं पता ही नहीं लगा तब यहां आकर नदीमें डूबने को तत्पर हुआ, उसी समय एक पुरुषने आकर तुम्हारा पता बताया !

सुखा०—हा पिता आपने भी मेरे लिए बहुत कष्ट सहे।

महि०—(मनोरमासे) पुत्री ! क्षमा करो ! क्षमा करो ! मैंने तुम्हारे साथ बहुत अन्याय किया है। तुमको नहीं पहिचाना।

मनो०—पिताजी ! सन्तानका धर्म माता पिताको क्षमा करने-का नहीं है, किन्तु उनकी आज्ञा पालन करनेका है।

महि०—सुखानन्द ! अब तुम देश चलकर माताके चित्तको शांति दो। वह तुम्हारे बिना रो रोकर दिन व्यतीत कर रही है।

सुखा०—पिताजी ! माताने तो मनोरमाको घरसे निकाल दी थी वह अब घरमें कैसे जायगी ?

महि०—बेटा ! उसका सब न्याय हो चुका है। वह एक दूती-का जाल था। राजाने न्याय करके दूती और राजकुमारको देशसे बाहर निकाल दिया है।

धन०—तब तो अन्तमें शील ही की जय हुई।

सुखा०—धन्य महाराज पद्मसेन ! आपने न्यायके लिये प्यारे पुत्रकी भी परवाह न की।

महि०—पुत्री ! अब तुम घर चलो और अपनी माताका मन प्रसन्न करो।

मनो०—पिताजी ! आपकी आज्ञा पालन करनेको मैं तत्पर हूं परन्तु मेरी एक प्रार्थना है। मैं गृहपर नहीं रहूंगी। अलग रहूंगी। कारण मैं कलङ्की हूं।

महि०—तुम्हारा कलंक तो दूर हो चुका है।

मनो०—केवल आपको तरफसे !

महि०—और महाराज पद्मसेनने भी तो न्याय कर दिया।

मनो०—परन्तु विजन्ती नगरके लोगोंको कैसे विश्वास हो।

महि०—तो तुम उनको कैसे विश्वास कराना चाहती हो ?

मनो०—पिताजी ! जिसने आपका मुझे दर्शन कराया वही मेरा प्रगट न्यायकर सारे संसारमें मुझे पतिव्रता प्रगट करेगा।

महि०—यदि तुम्हारी यही इच्छा हो तो कुछ दिन ऐसा ही किया जायगा। परन्तु घर जल्दी ही चलना चाहिये।

(इति पंचम गर्भांक समाप्त)

इति चतुर्थ अंक समाप्त।

पंचम अंक।

(प्रथम गर्भांक)

[**स्थान**—विजन्ती नगरीका राजभवन]

राजा०—मन्त्री ! क्या महिपाल सेठ पुत्र सहित आ गये ?

मंत्री०—हां महाराज ! पुत्र, वधू दोनोंको लाये हैं।

राजा०—मन्त्री ! तो अब उनसे अवश्य मिलना चाहिए।

मंत्री०—राजन्, मैंने सुना है कि मनोरमा महिपाल सेठके घर न जाकर अलग निवास करती है।

राजा०—प्रधानजी ! यह समाचार तुमको कैसे विदित हुआ ?

मंत्री० - महाराज ! जो कुछ बड़े आदमी करते हैं वह छिपा नहीं रहता।

राजा०—मन्त्री ! मनोरमाके अलग रहनेका क्या कारण होगा।

मंत्री०—महाराज ! मैंने सुना है कि, वह आपसे न्याय कराया चाहती है विना न्याय हुए वह श्वशुरके घर नहीं जावेगी।

राजा० - मंत्री, वह कैसा न्याय कराया चाहती है ?

मंत्री०—महाराज ! उसका कहना है कि मैं विजन्ती नगरीसे कलङ्की होकर निकाली गई थी। जबतक महाराज सर्वसाधारणमें मुझे निष्कलङ्की नहीं सिद्ध करेंगे तबतक मैं सास ससुरके घर नहीं जाऊंगी।

राजा० - सो तो मैं पहिले ही न्याय कर चुका हूं।

मंत्री०—महाराज ! यह तो मैं भी जानता हूं। उसको महि-पाल सेठने व्यभिचारका कलङ्क लगा घरसे निकाल दी थी। कदा-चित अब वह यह चाहती हो कि आप न्याय कर जिसका अपराध हो उसको दंड दें।

राजा०—नहीं मन्त्री ! शील धुरन्धर नारी ऐसा कदापि नहीं चाहेगी।

मन्त्री०—तो महाराज ! कदाचित और कोई कारण होगा।

(नेपथ्यमें दुहाई है, दुहाई है, का शब्द व कोलाहल होता है ।)

राजा०—मन्त्री, देखो तो द्वारपर यह कोलाहल काहेका होता है।

मंत्री०—महाराज, मेरी तो कुछ समझमें नहीं आता। द्वारपाल देखो तो यह कोलाहल क्यों हो रहा है ?

सेवक—महाराज, वहुतसे स्त्री, पुरुप और वालक तथा वालिका द्वार पर खड़े हैं।

राजा०—(मन्त्रीसे) प्रधानजी, तुरन्त चलकर देखना चाहिए कि प्रजाके भयका क्या कारण है ? (राजा जाते हैं)

राजा०—हे भाइयो. तुम सवपर ऐसी कौनसी आफत आई है जो तुम इतने घवड़ा रहे हो ?

प्रजा०—महाराज, क्या कहें ? कुछ कहा नहीं जाता ! नगरके वारहों फाटक वन्द हो गये। प्रजा व्याकुल हो रही है।

राजा०—क्या द्वार खोलनेका भी कोई प्रवन्ध किया गया है ?

प्रजा०—महाराज, और तो क्या हाथियोंके मस्तकतक भिड़ा दिये पर कुछ उपाय नहीं चला।

राज०—मन्त्री, भला इसका क्या कारण होगा ?

मन्त्री—महाराज, मुझे तो सिवाय दैवीकोपके और कुछ नहीं विदित होता।

राजा०—प्रधानजी, अपने राज्यमें तो किसी प्रकारका अन्याय नहीं होता फिर यह आपत्ति कहांसे आई।

मंत्री—महाराज, प्रथम तो द्वार खोलनेका प्रयत्न किया जाय, वादमें प्रजाको आज्ञा दी जाय कि धर्म ध्यान करे।

राजा—अच्छा, प्रधानजी, तुम प्रजाके साथ जाओ और जो उचित समझो करो।

(इति प्रथम गर्भांक समाप्त)

द्वितीय गर्भांक।

स्थान—राजा पद्मसेनका भीतरी महल।

राजा—हा विधाता, सात दिन व्यतीत हो गये सब प्रयत्न भी कर चुका, परन्तु द्वार नहीं खुलते। प्रजा हाहाकार कर रही है। मैंने तो कोई भी अन्याय नहीं किया! फिर यह दैवीकोप कैसे हुआ? अब मुझसे प्रजाका दुःख नहीं देखा जाता, नगरमें जल का अभाव हो रहा है। पशु इत्यादि जंगलोंमें न जानेसे क्षुधार्त हो रहे हैं। व्यापार बन्द हो गया है। सारी प्रजाका ध्यान फाटकों की ओर रहता है। लाखों प्रयत्न किये गये, परन्तु न तो द्वार ही टूटते हैं न कोट ही टूटता है। हे नाथ, दया करो, दया करो, प्रजाका दुख देख कर मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है।

(मूर्छित हो सेज पर लेट जाना) (स्वप्न में)

देवने कहा—"यदि कोई पतिव्रता स्त्री कच्चे सूतके डोरेसे छलनीमें जल खींचकर द्वारों पर छिड़के तब द्वार खुलें!"

(चौंक कर खड़े हो जाते हैं और सेज पर बैठ जाते हैं।)

(आश्चर्य से) अरे, क्या मैं स्वप्न देख रहा था? क्या सत्यमेव इन्द्रलोक वासी देवताने आकर मुझे यह युक्ति बताई? या वह

मेरे मन को भ्रमणी है ? परन्तु परीक्षा करनेमें कोई हानि नहीं। लेकिन मुझे विश्वास है कि, अवश्य महाराज इन्द्रने यह प्रण किया होगा कि यदि कोई पतिव्रता स्त्री जल छिड़के तो द्वार खुल जाय, और मुझे यह भी विश्वास है कि ऐसा करनेसे अवश्य द्वार खुल जायंगे। कोई है ?

सेवक—महाराज क्या आज्ञा होती है।

राजा—तू जा, अभी प्रधानजी को बुला ला।

मन्त्री—(प्रवेश करके) महाराज, क्या आज्ञा है ?

राजा—प्रधान जी, क्या कहूं ? आज मैं प्रजाकी चिन्तामें डूबा हुआ आंख बन्द किये पड़ा था। तब अनायास मैं मूर्छित हो गया और मुझे निद्रा आ गई। प्रधानजी, मैं स्वप्नमें क्या देखता हूं कि एक पुरुष सिर पर मुकुट धारण किये, उज्ज्वल वस्त्र पहिने, हाथमें सुमिरनी लिये मेरे सामने खड़ा है और उसने यह उपाय बताया कि यदि कोई पतिव्रता स्त्री कच्चे सूतकी डोरसे छलनी द्वारा कूप से जल खींचकर द्वारों पर छिड़के तो द्वार खुल जाय।

मन्त्री—तो राजन, आप निश्चय रखें कि ऐसा करनेसे द्वार अवश्य खुल जायंगे।

राज—प्रातःकाल नगरमें ढिंढोरा फिरवा दो कि नगरके सब स्त्री-पुरुष दक्षिण द्वार पर उपस्थित हों।

मन्त्री—जैसी महाराजकी आज्ञा, अब मैं जाता हूं।

(इति द्वितीय गर्भांक समाप्त)

———

तृतीय गर्भांक

(मनोरमा और हास्यमंजरी बैठी है ।)

हास्य०—सखी; तू क्या चाहती है ? कुछ भो कह । बिना कहे हम कैसे जानें ।

मनो०—हास्यमंजरी, क्या तू नहीं जानती मुझसे पूछती है ।

हास्य०—मेरी समझमें तो तेरा न्याय हो चुका । यह तेरा वृथा हठ है ।

मनो०—प्यारी, जब तक लोगोंको मेरे पतिव्रता होनेका दृढ़ विश्वास न हो जाय तब तक मैं कदापि अपना हठ न छोड़ूंगी ।

हास्य०—भला सखी, तुझे यह भो विदित है कि नगर में क्या हो रहा है ?

मनो०—सखी, मुझे इतना विदित है कि नगरके द्वार बन्द हो गये हैं, और महाराज सब प्रयत्न कर चुके तो भी नहीं खुलते ।

हास्य०—सखी क्या तुझे नहीं मालूम कि तेरी परीक्षाका समय अब आ गया है ।

मनो०—क्यों प्यारी, कैसे ?

हास्य०—बहिन, महाराजका विश्वास है कि यदि कोई सताई हुई पतिव्रता स्त्री द्वार खाले तो खुलेंगे नहीं तो नहीं ।

मनो०—प्यारी, अभी तक किसीने भी द्वार नहीं खोले ।

हास्य०—नहीं प्यारी, हजारों स्त्रियां खोलनेको आईं पर अभी तक तो नहीं खुले ।

मनो०—तो सखी, अब मेरी परीक्षाका समय आ गया ।

हास्य०—हां प्यारी, समय भी आ गया है और कल शहरमें यह भी चर्चा थी कि स्वयं महाराजा पदमसेनजी यहां आवेंगे।

मनो०—अहो भाग्य, आज मेरे सब दुखोंका अन्त हुआ चाहता है। (प्रियतमाका प्रवेश)

प्रिय०—(मनोरमा से) सखी, दरवाजे पर महाराज पदमसेन खड़े हुए हैं, और आपसे भेंट करना चाहते हैं।

मनो०—सखी, तू महाराजको आदरपूर्वक ले आ।

राजा०—पुत्री, कुशल तो है न।

मनो०—पिताजी आपकी कृपासे सदैव कुशल ही है।

राजा०—पुत्री मनोरमा, क्या तूने नगरके समाचार सुने हैं।

मनो०—हां महाराज।

राजा०—तो मनोरमा, अब तू चल कर प्रजाका दुःख दूरकर और अपना पतिव्रता होना सिद्ध कर।

मनो०—राजन, आपकी आज्ञा मुझे सर्वोपरि मान्य है, परन्तु विना पतिकी आज्ञा मैं कैसे जाऊं।

राजा०—धन्य है, मनोरमा, तेरी पति-भक्ति को। तू सत्यमेव शीलधुन्धर नारी है, और मुझे निश्चय है कि तेरे प्रयत्नसे अवश्य द्वार खुलेंगे। अब मैं गमन करता हूं। तू पतिकी आज्ञा लेकर जल्दी आ।

मनो०—महाराज, आप ढिंढोरा फिरवा दें कि नगरके सब नर-नारी कल प्रातःकाल ही द्वार पर उपस्थित हों। मैं भी उस समय पतिकी व सास ससुरकी आज्ञा लेकर आऊंगी।

महाशयगण ! आज इसकी परीक्षा का समय आ गया है, क्योंकि, आप जानते ही हैं कि, देवकोप से नगरके तमाम द्वार वन्द हो गये हैं असंख्य प्रयत्न पर भी नहीं खुलते। महाराज को स्वप्न में यह आदेश हुआ कि, यदि कोई पतिव्रता स्त्री कच्चे सूत की डोर से छलनी द्वारा कूपसे जल निकालकर द्वारों पर छिडके तो द्वार खुलें। अनेक स्त्रियों ने गुप्त रीति से प्रयत्न किए, परन्तु कोई भी सफल न हुई। अन्तमें महाराज ने मनोरमा से द्वार खोलने का अनुरोध किया है। क्या इससे बढ़कर मनोरमा के पतिव्रत धर्म की और कोई कसोटी होगी ? यदि ऐसा करनेसे द्वार खुल गए तो मनोरमा पूर्ण शीलवती सिद्ध होगी।

मनो०—(स्वगत) हे प्रभो ! दयानिधि करुणासागर मैंने बालपन में ही मुनिराज से शीलव्रत की दीक्षा ग्रहण की थी। तबसे आज तक मैंने अपने पति के सिवाय दूसरे की ओर बुरे भावोंसे आंख उठाकर भी नहीं देखा है। मुझपर बड़ी बड़ी आपत्तियें आईं, परन्तु मैंने अपने शीलरत्न को नहीं त्यागा। मैं प्राण देने को उद्यत होगई, परन्तु शील धर्म नहीं छोड़ा। हे प्रभो ! आप अपने ज्ञाननेत्र से सर्व संसार को देखते हैं। आपने कभी भी मुझे शीलसे विमुख होते देखा ? हे नाथ ! मैं सदैव शील मार्ग पर चलती रही। हे अमरेश ! जिस समय राजकुमार वल्लभपुरीमें मेरे प्राण लेनेको उद्यत हुआ था उस समय आपने अपने सहचरको भेज मेरी रक्षा की थी और प्रथम स्वर्गके देवताओंके सन्मुख मेरे शीलव्रत की प्रशंसा की थी, तो आप आज आकर इस दासी को इस कार्यमें सहायता

दीजिए। हे प्रभो ! आपने द्रौपदी, सीता, अंजनी आदि की सहायता की थी, तो क्या मुझ दासी को भूल जावोगे ? हे प्रभो ! आपका नाम करुणासागर है। अतएव मुझे बल दीजिए कि मैं परीक्षा में उत्तीर्ण होऊं।

(मनोरमा—कच्चे सूतकी डोरीसे छलनी को बांधकर कूपमें डालती है, और जल निर्विघ्न बाहर निकाल द्वार पर छिड़कती है। द्वार खुल जाता है, और सब स्त्री पुरुषों की जयजयकार की ध्वनि से आकाश गुञ्जायमान हो जाता है। आकाशसे पुष्प-वृष्टि होती है। (सामने से माता, पिताका आना)

मनो०—हे पिता आपका आना कैसे हुआ ?

महिदत्त—हे पुत्री ! तेरा आना सुनकर हम भी यहां आए हैं। आज द्वार पर आए तीन दिन हो गए बाहर ही थे।

वनमाला—हे पुत्री ! तूने मेरे कारण बहुत कष्ट सहा।

मनो०—हे माता ! आपका क्या दोष ? यह सब मेरे ही भाग्य का दोष है।

राजा—हे सज्जनों ! आज बड़े हर्ष का समय है कि, जो द्वार सात दिनोंसे असंख्य प्रयत्न करने पर भी नहीं खुले थे वे देवी मनोरमाके खोलने से खुल गये। अब मेरी इच्छा है कि, इस हर्षमें सब मिलकर एक गान गावें।

सुनियो भवि लोका करमन को गति बांकड़ी ॥ सु० ॥

तारथ ईश जगतपति स्वामी, ऋषभदेव महराज।

एक वर्ष आहार न मिल्या, भयो असम्भव काज जो ॥सु०॥

अर्ककीर्ति परनारी कारन, जयकुमार से हारे।
कीरत खोय दई सब छिनमें, कर्म उदय अनिवार जो ॥सु०॥
विधिवश रावन हरी जानकी, अपजस भयो अपार।
पांडव पांच भेष कर निकले, तब पायो आहार जी ॥सु०॥
छप्पन कोटि यदुवंश कहावे, हारी त्रिखण्डपति सार।
जनमत मंगल भयो न जिनके, मरे न रोवनहार जो ॥सु०॥
कर्मन की गति रुके न काहू, तीनो लोक संभार।
इसी तरह श्री मनोरमा ने, भोगे कष्ट अपार ॥सु०॥

(इति चतुर्थ गर्भांक समाप्त)

प्रिन्टर—दुलीचन्द परवार, "जिनवाणी प्रेस"
८०, लोअर चितपुर रोड, कलकत्ता।